सम्यक् ज्ञानमाला का चतुर्थ रत्न

नवीनता के अनुगामी

व्याख्याता—

उपाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज

सम्पादक—

शान्तिचन्द्र मेहता एम० ए० एल० एल० बी०
साहित्यरत्न

प्रकाशक—

सम्यक् ज्ञान-मन्दिर

कलकत्ता

प्रकाशक—
मंत्री,
सम्यक् ज्ञान-मन्दिर,
८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता

प्राप्ति स्थान—
जवाहर मित्र मंडल
कपड़ा बाजार
ब्यावर (राज०)

श्री भीखमचंद अभाणी
दफ्तरियों की गली
बीकानेर

मूल्य— १।)
(लागत मूल्य का पौना मूल्य)
आषाढ़, संवत् २०१५

मुद्रक—
मेहता फाइन आर्ट प्रेस
२०, बालमुकुन्द मक्कर रोड,
कलकत्ता-७
फोन—३४-१२४७

प्रकाशकीय

सम्यक् ज्ञान-मन्दिर का चतुर्थ रत्न—नवीनता के अनुगामी प्रकाशित करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं। इस प्रकाशपुंज ग्रन्थ-रत्न की एक भी रश्मि यदि अज्ञानान्धकार को भेद कर जन-मानस को आलोकित कर सकी तो हम अपने श्रम व ध्येय को सफल समझेंगे।

'नवीनता के अनुगामी' पू० उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० द्वारा विभिन्न स्थानों पर विभिन्न विषयों पर दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। प्रत्येक व्याख्यान का अपना अलग अस्तित्व है फिर भी प्रथम व्याख्यान के आधार पर ही पुस्तक का नामकरण किया गया है। इन व्याख्यानों में उपाचार्य श्री की वाणी उस युगद्रष्टा महापुरुष की तरह मुखरित हुई है जो गर्तोन्मुख समाज को महाविनाश से बचाने के लिये कभी आक्रोषपूर्ण शब्दों का व्यवहार करता है और कभी न मानने पर महाविनाश की कल्पना कर स्वयं ही रुद्धकंठ हो जाता है। सर्वत्र इन व्याख्यानों में एक मधुर फटकार व बुराइयों से ऊपर उठने के लिये बलवती प्रेरणा भरी हुई है।

प्रस्तुत व्याख्यानों का सम्पादन श्री शान्तिचन्द्र जी मेहता एम० ए० एल० एल० बी० साहित्यरत्न ने बहुत योग्यता के साथ किया है। इसके लिये हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

यदि समाज ने प्रस्तुत प्रकाशन का हार्दिक स्वागत किया तो हमारा श्रम सार्थक होगा।

—सरदारमल कांकरिया

दो शब्द

स्व-पर कल्याण श्रमण संस्कृति की महान् परम्परा है। अतीत से अर्वाचीन काल पर्यन्त इस परम्परा का अक्षुण्ण व अबाध रूप से निर्वाह होता आया है। अवांछनीय तत्त्व व विकट परिस्थितियां भी जन-सेवा के मार्ग से उसके उपासकों को च्युत् नहीं कर सकीं।

इतिहास साक्षी है। आज तक अगणित संतों, श्रमणों, निर्ग्रन्थों या माहणों ने समाज-विकास में तथा बुराइयों के प्रतिकार में अपना जीवन समर्पित किया है। प्रकृतिजन्य तथा भौगोलिक कठिनाइयां भी उनका मार्ग अवरुद्ध न कर सकीं। पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत भू-खंडों में फैले हुए प्रचार-चिह्न उनके द्वारा किये गये महाप्रयासों की ओर आज भी इंगित कर रहे हैं। कंटकाकीर्ण, ऊँचे-नीचे मार्गों, अट्टहास करते मरु पथों, हिंस्र पशुओं से परिपूर्ण बन-वीथियों को पार कर दूर प्रदेशों में वे स्वर्ण खानों अथवा तैलकूपों की खोज में न निकले थे। न उनकी कहीं उपनिवेश स्थापित करने की ही आकांक्षा थी। वे गये थे मात्र भ्रमित मानवता को सत्पथ दिखाने तथा सत्य, अहिंसा, विश्वबंधुत्व की भावना का अद्भुत प्रचार करने। जीओ और जीने दो, उनका महान् संदेश था।

नैत्रों में अजस्त्र करुणा, हृदय में विश्वास, सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री भाव, यही उनके अस्त्र थे। जो भी उनके सम्पर्कमें आया वही राग-द्वेषात्मक वृत्तियों को भूलकर उनका हो गया। अक्रोध से क्रोध को जीता, अमान के शक्ति में उन्मत्त नराधीपों को जीता और मायाविहीन सरल-सत्य-व्यवहारसे महाकुटीलों को जीता। राक्षसी वृत्तियों पर दैवी वृत्तियों की यही तो विजय है।

आज भी श्रमण संस्कृति की यह परम्परा जीवित है। विना किसी आकांक्षा अथवा लालसा के शतशः निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थ-नियां पाद-विहार करते हुए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जन-जीवन के उत्थान में संलग्न हैं। प्रस्तुत व्याख्यान संग्रह इसी श्रमण-परम्परा के महान् प्रतिनिधि पूज्य उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी का है। ये व्याख्यान मात्र व्याख्यान नहीं परन्तु दलित, थकित व शोषित मानव-समुदाय के लिये संजी-वनी वटिकायें हैं। वक्ता यदि मात्र वक्ता न होकर चिन्तक व विचारक हो तो समस्याओं व ग्रन्थियों को सुलझाने में देर नहीं लगती। ग्रथित व्याख्यानों को पढ़ते हुए प्रतिभासित होता है कि गहनचिन्तन, विश्लेपण तथा अध्ययन के पश्चात् ही इस प्रकार के विचार व्यक्त हो सकते हैं।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। प्रत्येक काल के साहित्य में तत्कालीन समाज तथा उसकी स्थिति का अवलोकन किया जा सकता है। क्योंकि साहित्य का निर्माण ही जन-हित की कामना से किया जाता है। जिस साहिन्य में लोक-हित की

भावना नहीं होती वह साहित्य ही नहीं होता है। व्याख्याकारों ने 'हितयुत रचना' को साहित्य कहा है। अतः प्रत्येक लेखक अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है, उसकी रचना मात्र स्वान्तः सुखाय ही नहीं होती परन्तु लोकरंजन तथा लोकहित के लिये भी होती है। अतः लेखक अपनी समकालीन परिस्थितियों से अस्पर्श्य नहीं रह सकता।

प्रस्तुत व्याख्यान संग्रह में भी हमें युगकालीन समस्याओं का विश्लेषण मिलता है। एक साधक जो सांसारिक समस्याओं से दूर हो विरति की ओर अग्रसर है, फिर भी वह सामाजिक बुराइयों की ओर आँख मींचकर नहीं रह सकता। उपाचार्य श्री भी एक ओर शोषण व अन्याय की ओर जनता का ध्यान खींचते हैं तो दूसरी ओर पुरुषार्थ करने की भी प्रेरणा देते हैं। आँख मीचकर बढ़ते हुए वर्तमान फैशनग्रस्त युवकों की भर्त्सना करते हैं तो रूढियों में आबद्ध पुराण-पंथियों को भी सचेत होने की चेतावनी देते हैं। कहीं सुप्त शक्तियों को आन्दोलित करते हैं तो कहीं कषायों को उपशान्त करने के लिये भी प्रेरणा देते हैं। कहीं अवगुंठन में छीपी नारी जाति को अपनी प्रच्छन्न शक्ति पहचानने के लिये निर्देश देते हैं तो कहीं तितिलियों सी भ्रमित नारियों को नारीधर्म की पवित्रता समझाते हैं। कहीं कर्मवीर योगनिष्ठ श्रीकृष्ण के जीवन की पवित्रता बताते हुए उनके महान् जीवन का अनुकरण करने के लिये प्रेरणा देते

हैं तो कहीं उनके जीवन को रासलीलाओं या मक्खन-चोरियों द्वारा लांछित करने वाले व्यक्तियों को धिक्कारते हैं।

संक्षिप्त में सर्वत्र इन व्याख्यानों में एक नवीन दृष्टि व गहन चिन्तन का अनुभव होता है। इतने परिपक्व विचार असाधारण व्यक्तियों के द्वारा ही व्यक्त हो सकते हैं।

ग्रन्थ का सम्पादन विद्वान् सम्पादक ने अत्यन्त योग्यता से किया है। भाषा स्वाभाविक रूपमें ही रखकर सम्पादक ने अपने उत्तरदायित्त्व का निर्वाह किया है।

वोलचाल की भाषा होने से प्रस्तुत ग्रन्थ आवालवृद्ध सवके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों को इस महान् प्रयास के लिये वधाई देता हूं। इस पुस्तक द्वारा उपाचार्य श्री की वाणी कोटि २ मानव समुदाय तक पहुंच सकेगी।

२० वालमुकुन्द मक्कर रोड,
कलकत्ता-७

—मदनकुमार मेहता

विषय-सूची

नवीनता के अनुगामी

नवीनता के अनुगामी

चेतन भज, कल्याण करण को
आज मिल्यो अवसर रे।
शास्त्र प्रमाण पिछाण प्रभु गुण
मन चंचल थिर कर रे।
—श्री श्रेयांस जिनंद सुमर रे॥

आज नव वर्ष का प्रारम्भ होता है। इस नव वर्ष के दिवस को कुछ विशेष दिवस के रूप में माना गया, सम्भव है इसीलिए आप लोगों ने मुझे यहां व्याख्यान देने के लिये कहा।

आज नव वर्ष का शुभारंभ है और इस दिन विगत वर्ष का सम्पूर्ण इतिहास सबके सामने है। अब मैं आपसे पूछता हूं कि इस नव वर्ष में आप क्या नवीनता लाने वाले हैं? सम्यग् दिशा में नवीनता, नया दृष्टिकोण नहीं बनता है तो फिर नव वर्ष की विशिष्टता ही क्या?

आज की प्रार्थना का विषय भी श्रेयांस भगवान् का आ गया है, अतः मानों उपर्युक्त कविता के शब्दों में विशिष्ट नवीनता-संदेश प्रस्फुटित हो रहा है—"मन चंचल स्थिर कर रे" हे साधक! अपने चंचल हृदय को स्थिर बना। उसमें एक शोधन की स्थिति पैदा कर, जिससे वह (मन) संतुलित बन जीवन की

सही दिशा में शक्तिशाली नया मोड़ दे सके। ऐसा नया मोड़—जो उत्थान मार्ग की ओर उन्मुख बना देता हो। कवि के उद्गार है कि श्रेयांस जिनेन्द्र का स्मरण कर; क्योंकि जिनका नाम ही कल्याण है, उनकी भक्ति द्वारा अपने कल्याण का अलभ्य अवसर मिल गया है।

वास्तविक कल्याण-मार्ग की ओर आगे बढ़ने से ही जीवन में नवीनता का उद्भव हो सकता है; क्योंकि जागतिक विकृतियों में फंस कर आत्मा अत्यधिक जीर्ण सी बन गई है। उसमें नवीनता लाने के लिए शास्त्रीय, सनातन व सत्यरूपी जीवनौषधि की आवश्यकता है। कवि चेतावनी दे रहा है कि इस अवसर को हाथ से न जाने दें। तो क्या आप इस चेतावनी से सचेत होकर आगे बढ़ने के लिए तैयार हैं? सांसारिकता में निरन्तर डोलते हुए चंचल चित्त को नियंत्रित करके विकास के लक्ष्य की ओर स्थिर करने के लिये क्या उद्यत है? क्योंकि आपकी इस प्रकार की तैयारी ही नवीनता की तरफ गति करने का लक्षण होगी।

मनुष्य के जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है तो विदित होता है कि प्रारम्भ से ही प्रत्येक के हृदय में नवीनता की एक गहरी उत्कण्ठा होती है, वह उत्कण्ठा सही दिशा में होती है या नहीं—यह सवाल दूसरा है, लेकिन बचपन में ही देखा जाता है कि बच्चा नये २ खिलौनों, नई २ वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता है। संस्कारजन्य स्वभावतः पुरानी वस्तुओं में एक उपेक्षावृत्ति सी पैदा हो जाती है। आप

दैनिक खान-पान में भी देखते हैं कि एक ही तरह का शाक रोज-रोज साधारण प्रकृति के मनुष्य को अच्छा नहीं लगता, रहन-सहन व वेष-भूषा में भी वे नित्य एक ही ढंग को पसंद नहीं करते।

यह तो साधारण प्राणियों के लौकिक रुचि का प्रश्न है, किन्तु वास्तविक जागृत आत्मा का स्वभाव है कि वह नई-नई समस्याओं को सोचती है, नई-नई भावनाओं को नये २ दृष्टि-कोणों के आधार पर विचारती है, यह उसके जागृत होने का, गतिशील बने रहने का प्रवल प्रमाण है। जहां जीवन में सम्यग् गति नहीं है, स्थगन है, वहां वैचारिकता नहीं है, नवीनता नहीं है तो वैसा जीवन, जीवन नहीं, उसे मृत्यु का दूसरा नाम कह सकते हैं। वास्तविक नवीनता में कुछ ऐसी ही आकर्षण शक्ति है कि अनायास ही विकासशील व्यक्ति की अन्तर्वृत्ति उस ओर झुक जाती है। आप जानते हैं कि वर्ष के सभी दिन एकसे होते हैं, किन्तु आप लोग कुछ दिनों को नये दिन कह कर मानते हैं, यह क्या है—नवीनता के प्रति छिपे आकर्षण का प्रकारान्तर प्रकटीकरण का आभास ही तो। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य सदैव सही नवीनता के प्रति सजग रहता है।

अव प्रश्न उठता है कि नवीनता के प्रति यह आकर्पण वृति मनुष्य के हृदय में संलग्न क्यों है? जीवन में इस वृति से क्या कोई लाभ भी है?

मूलतः मनुष्य एक विवेकशील प्राणी होता है। इसलिए उसके हृदय में एक पैनी जिज्ञासा वृत्ति का निवास होता है। अधिक से अधिक नया जानने की तीव्र उत्कण्ठा ही नवीनता की ओर कदम बढ़ाने की प्रेरणा देती है और मनुष्य के प्रयासों के लिए नये २ क्षेत्र खोलती है। कई अन्वेषकों ने अपने जीवन का सब कुछ गुमा करके भी उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों की यात्रा की, हिमालय की चोटी तक पहुंचने के प्रयास किये और वे समुद्र की गहराई और आकाश की ऊँचाई मापने की ओर भी बढ़ें तो इन सबसे साहस का यह भाव झलकता है कि अपनी जिज्ञासा पूर्ति के रास्ते पर मनुष्य अपना सब कुछ भी निछावर कर सकता है।

मनुष्य एक ऐसा विकासशील जीव है, जिसने अपने मस्तिष्क की अत्यधिक प्रगति प्राप्त की है, उसका ज्ञान केवल बाह्य पदार्थों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसने वैचारिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक उन्नति की है। उसकी जिज्ञासा वृत्ति इन क्षेत्रों में और भी अधिक उग्र हो उठती है—जिसका सबूत है कि बड़े २ दार्शनिक और विचारक अपेक्षाकृत इस क्षेत्र में नवीन २ विचारधाराओं को जन्म देते हैं तथा बड़े २ आध्यात्मिक साधक स्वकीय दिव्य शक्ति को प्राप्त कर संसार को सही रास्ते का उद्बोध देते हैं। यह वृत्ति इस बात की परिचायिका है कि शुद्ध आत्म-ज्योति का रूप नवीनता हृदय संलग्न होकर आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बनती है, जिससे मनुष्य

स्वयं सोचता है, जानता है, सीखता है और स्व-पर के लिए वस्तुतः कार्य-क्षेत्र निर्धारित कर सकता है।

मनुष्य इसी पवित्र शक्ति स्रोत के बल पर अपना स्वतन्त्र मस्तिष्क, स्वतंत्र व्यक्तित्व के शुद्ध आचरण की अनुभूतियों द्वारा जीवन-निर्माण कर सकता है।

जीवन उसके लिए इसी कारण संघर्ष बन जाता है कि वह अपनी आत्मज्योति की नई पगडण्डी ही सही, पर बना कर चलना चाहता है, अनादिकालीन घिसे हुए विकारी रास्ते पर नहीं।

पूर्व के महापुरुषों द्वारा अजमाये हुए मार्ग पर भी चलता है पर विवेक दीप को साथ में रख कर बड़ी ही सावधानी के साथ। वह स्वकीय अन्तर की अनुभूति के द्वारा देखने का प्रयास करता है कि उस रास्ते की संयमी जीवन में कितनी उपयोगिता है।

तीसरी जिज्ञासा—आत्मज्योति रूप नवीनता की प्रेरणा देती है, नवीनता मनुष्य को जगाती है, सत्कर्मनिष्ठ वनाती है। उसे शक्ति प्रदान करती है। वह स्वयं निर्माता वने, यह प्रेरणा वास्तविक जीवन है।

मनुष्य की सभी शक्तियाँ नवीन सत्कर्म से उद्‌बोधित रहती है। जीवन के सम्यक् विकास में जुट जाती है। मनुष्य अपने सही लक्ष्य की ओर आगे बढ़े इसके लिए उसकी सबसे पहले अनिवार्य आवश्यकता होती है। यही कारण है कि आचार और

विचार की दृष्टि से भी मनुष्य पिछड़ा नहीं रहना चाहता, उसे नहीं रहना चाहिए। वे इस बात की कोशिश करें कि ज्ञान के विशाल भंडार में वे प्रवेश करें, महान् मनीषियों के तत्त्व चिन्तन व आचरण को जाने, किन्तु उन सब को सम्यग् ज्ञान व आचरण में रमा कर ग्रहण करें, अपनी शुद्ध-बुद्धि की कसौटी पर कस कर उसका मनन करे, और यह मनोवृति वास्तविक नवीन विचार तथा आचार-क्रान्तियों का कारण बनती है। जब विकार आचार विचारों का स्थान संशोधित नई और सुलझी हुई आचार विचार धाराएं लेती है।

भगवान् महावीर ने क्या किया था, जिस युग में वे पैदा हुए थे, अमानवीय आचार-विचार का वातावरण बना हुआ था, सही आचार-विचार का स्थान कु आचार-विचार ने ले रखा था। उन्होंने युग प्रवर्तन पर विचार किया, तत्कालीन आचार और विचार में वस्तुतः क्रान्ति की ओर एक नये प्रगतिशील आचार-विचार को जन्म दिया। उस आचार और विचार ने युग के आचार विचार को बदल दिया और वे एक दृष्टि से युग प्रवर्तक बन गये। वास्तविक नवीनता की ओर बढ़ने वाले महान् आत्माओं के जीवन विकास का ऐसा ही इतिहास हुआ करता है।

किन्तु कुछ तथ्य प्राचीनता का भी सोचने का है। प्राचीन शब्द अपेक्षाकृत है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में सत् की व्याख्या की गई है "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" सत् का अर्थ ध्रौव्य युक्त

उत्पति, विनाश कहा गया है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में एक पर्याय का नाश और अन्य पर्याय का उत्पाद है। जीवन के अन्दर अभद्र आचार-विचार भी एक प्राचीन पर्याय है। इनको त्याज्य जानना भी एक महत्त्व का विषय है। अन्तःकरण पूर्वक अभद्र आचार-विचार-पर्याय का संशोधन रूप परिवर्तन किया जाता है। परिवर्तन और संघर्ष जीवन के तौरतरीकों के साथ होता है। जीवन का अन्तरिम उद्देश्य तो सदा एक सा रहता है और एक सा ही रहेगा कि समस्त विकारों की मुक्ति के रूप में चरम लक्ष्य प्राप्त किया जाय। उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए साधकों की योग्यतानुसार अलग २ ढंग हो सकते हैं, किन्तु संशोधित मानस में दया, सहानुभूति, भ्रातृत्व, सदाचरण व त्याग आदि इन सारे सद्गुणों को जीवन के साँचे में ढाल कर उसे आचरिक और वैचारिक विकास के एक उच्चतम अन्तिम स्तर पर पहुंचा दिया जाय, यह शाश्वत लक्ष्य है, इसी को दृष्टिगत रख कर मानव विकट परिस्थिति में भी आगे बढ़ सकता है।

प्रचलित परिपाटियों में इधर उधर से जो विकार आ जाते हैं, उनको हटाने और चेतना जागृत करने के लिये मूल स्थितिके रक्षण पूर्वक जो भी विवेक सहित परिवर्तन लाये जाते हैं, उन्हें भी नवीनता की संज्ञा दी जा सकती है। इन अर्थों में नवीनता का यह अभिप्राय होना चाहिए कि जो परिवर्तन और एक-रूपता को संतुलित रखती हुई मनुष्य की सही जिज्ञासा वृति को

संतुष्ट करती है और उसे सत्य लक्ष्य की ओर प्रवृत होने में जागृत रखती है, ऐसी सच्ची नवीनता है और उसके अनुगामी जीवन के सही प्रगति मार्ग को निष्कण्टक बनाते हैं।

इस नवीनता को नव वर्ष दिवस पर हृदयङ्गम करना है, इस नवीनता की प्रेरणा को लेकर सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आते रहते हैं; किन्तु इन परिवर्तनों में भी वे रीति-रिवाज नष्ट हो जाते हैं जो प्राचीन होते जाते हैं। यहाँ 'नवीन' व 'प्राचीन' शब्दों के अर्थ व अन्तर को समझ लेना चाहिये। इन दोनों शब्दों का अर्थ अपेक्षाकृत लेना चाहिये। समाज में हो मोहवर्द्धक समाज-घातक, स्वार्थ-पोषक रीति रिवाज। और धर्म में हो तो धर्म के नाम पर अज्ञान तप, विकार-पोषक, सिद्धान्तहीन, संयमी भावनासे शून्य जड़-पोषक नियमोपनियम।

जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हों, शुद्ध संयमी जीवन की उपयोगिता के लिए समाज व व्यक्ति में जीवन का संदेश फूंकने वाले हों, वे बहुत वर्षों के बने हुए होने पर भी नवीन ही समझना चाहिए। किन्तु विवेक एवं आत्म-ज्योति को भूलाने वाले नवीनता के नाम पर विकारी भाव व स्वार्थ के पोषक नैतिक भाव हीन सुन्दर शब्दों में नवीन बने हुए कितने ही नियमोपनियम हो, वे प्राचीन शब्द से कहे जाने चाहिए। इन शब्दों में समय का मापदण्ड ठीक नहीं हो सकता किन्तु संयमी जीवन की उपयोगिता का मुख्य महत्त्व होता है।

इसी दृष्टि से तत्त्वों का चयन किया जाना चाहिए। न कि

आज के किन्हीं जोशीले नवयुवकों की तरह कि पुरानी सब चीजें त्याज्य है। सभ्यता से पिछड़ी हुई हैं और नई सभ्यता की सारी चीजें ज्यों की त्यों अपनाने योग्य है। मैं उन नवयुवकों को भी कहना चाहूँगा कि हठाग्रह अलग चीज है, और विवेक-पूर्वक समझना अलग बात है एवं मेरा खयाल है सही समझ के लिए प्राचीन एवं नवीन का जो ऊपर मापदण्ड बताया गया है वह सभी दृष्टियों से काफी समुचित जान पड़ेगा।

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्य क्षेत्रीय जीवन में सदैव नवीनता बनाये रखने के हेतु व्यक्तिगत जीवन में भी परिवर्तन जरूरी होते हैं। व्यक्ति जितना सैद्धान्तिक आचार-विचारों से अधिक जागरूक होगा, उतने ही अधिक समय तक समाज, राष्ट्र व अन्य क्षेत्र प्राचीनता की गर्द से नहीं ढके जा सकेंगे। इसका कारण है कि उन तत्त्वों से सभी को समान जीवनप्रद प्रेरणा मिलती रहेगी।

यदि मनुष्य ने हृदय के अपवित्र विचारों को नहीं छोड़ा, अपने आपको स्थिरचित्त बना कर जीवन के महत्त्व को नहीं समझा और सही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी भान नहीं रखा; तो उसके लिए केवल भौतिकवादी नवीनता निस्सार ही सिद्ध होगी।

इस नवीनता की स्फूरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिये ग्रहण करना चाहिए। और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रगट करना चाहिए, तभी नवी-नता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है।

किन्तु होता क्या है कि कई सुधारक दूसरों के जीवन में सुधार-मय नवीनता लाने के लिये वड़ा जोर लगाते हैं और अपने जीवन का खयाल कम रखते हैं। व्यक्ति अपने जीवन में कुछ भी न उतार कर दूसरों से कुछ कहे यह एक प्रभावहीन तरीका है। वास्तव में प्रभाव तव पड़ता है कि दुनियाँ व्यक्ति के सत्कर्म निष्ठ संयमी जीवन की ओर स्वयं देखे और देखती रहे; क्योंकि वैसे व्यक्ति का जीवन ही इतने ऊंचे-नीचे अनुभव लिए हुए होगा कि उससे नई २ प्रेरणायें प्रस्फुटित होती रहेंगी।

भगवान महावीर ने पहले चतुर्विध तीर्थ को उपदेश नहीं दिया, जव तक कि अपने में सव कुछ अनुभव साधना करके देख परख न लिया। इसी कारण उनका जीवन आज भी अमर है और विकास इच्छुकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान अमर रहेगा। साधारण साधक भी अपना एक नियम वनाता है कि एक चीज को खुद यथासाध्य अजमा कर उसके नतीजे के मुताविक दूसरों को कहा जाय।

अतः थोथे कथन की अपेक्षा आचरणमय कथन सुधारकों का लक्ष्य होना चाहिए। जैन मुनि स्वयं कठोर साधना में तल्लीन रहते हैं तदनुसार उपदेश देते हैं अगर कथनी व करनी की समता न हो, तो उपदेश व सुधार के नाम पर समाज में दम्भ और विकृति ही अधिक फैलने की आशंका रहती है।

नवीनता के असली महत्त्वको नहीं समझनेके लिये मैं केवल नवयुवकों के लिए ही नहीं कहता, वल्कि उतने ही अंशों में

विकार-पोषक प्रथाओं के समर्थकों के लिए भी कहता हूँ कि वे कई समाज-घातक रीति-रिवाजों से चिपके रहने पर भी सभ्यता के अनुपालन करने का घमण्ड करते हैं और उन्हें जो कोई उन सामाजिक कुप्रथाओं को छोड़ने का कहता है, उसे वे कुल-परम्पराओं की मर्यादाओं को तोड़ने वाले उच्छृंखल आदि कह कर तिरस्कृत करना चाहते हैं। इनके इस हठवाद का असर नवयुवकों पर भी पड़ता है। नवयुवक इसी हठवाद को नई सभ्यता के साथ जोड़ कर कहने लगते हैं कि जो कुछ भी पुराने पुरुष कार्य करते हैं वह सब का सब खराब है। अतः दोनों वर्ग ही इसी मर्ज के बीमार हैं। हठवाद को छोड़ कर संयमी जीवन की उपयोगिता और सत्शुद्ध पवित्र अन्तर्आत्माओं की प्रेरणा के मापदण्ड से किसी सिद्धान्त व नीति को परखना नवीनता के महत्त्व को भलीभांति समझता है।

इस नये वर्ष को सफल बनाने के लिए जीवन में प्रत्येक कार्य व प्रत्येक क्षण का गहरा विचार किया जाना चाहिए। इस जीवन में दूसरे से कितना ऋण लिया जाता है उनके प्रति उऋण हुआ जाता है या नहीं ? यह सब आत्म-निरीक्षण की दृष्टि से सोचना चाहिए। ऋण सिर्फ साथी मनुष्यों से ही नहीं, पशुओं व सूक्ष्म प्राणियों से भी लिया जाता है तो इन सब के ऋण चुकाने का यह अर्थ है कि अपनी सारी शक्ति इन सब के कल्याण व हर तरह से इनके रक्षण में लगावें। इस तरह वह एक दृष्टि से उनपर कोई उपकार नहीं करेगा—अपितु अपने

कर्त्तव्य का ही पालन करेगा। इस कर्त्तव्य पालन के कई तरीके हो सकते हैं। कवि ने कहा है—

भुक्ता मृणाल पटली, भवता निपिता,
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निसेवितानि।
रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य,
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः।

एक राजहंस एक सुन्दर सरोवर के किनारे बैठता है। वह वहां के मोती चुगता है। कमलों से क्रीड़ा करता है और सरोवर के स्वच्छ जल पर विहार करता है तो सब का उस पर उपकार होता है। इसे वह चुकाता कैसे है कि अपनी चोंच से दूध व जल को पृथक् २ कर देने की शक्ति का वह उपयोग करता है। यह सम्पन्न शक्तियों के ऋण चुकाने का तरीका हो सकता है। वह सम्पन्नता चाहे जैसी हो। बुद्धि से, बल से, धन से या किसी अन्य शक्ति से उस सम्पन्नता का उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं किन्तु जिनसे वह सम्पन्नता प्रत्यक्ष व परोक्ष तरीकों से मिली है, उन सब के लिए सामूहिक कल्याण हित-साधन के लिए किया जाय। उनकी यह सम्पन्नता एक दृष्टि से ट्रस्ट मात्र है। जो समझ लीजिये योग्य होने के नाते उचित व्यवस्था के लिए उनको मिला है; क्योंकि सार्वजनिक जनता द्वारा नियुक्त एक ट्रस्ट सार्वजनिक स्वामित्व की सम्पत्ति होती है। अतः ट्रस्टी द्वारा उचित व्यवस्था के अभाव में सम्भव है कि ट्रस्ट को उनके पास न रहने दिया जाय। ट्रस्टियों को सार्वजनिक सम्पत्ति

इसलिये दी जाती है कि वे उसके बदले में सब को विश्वास देते हैं और इसी विश्वास को बराबर निभाना, सब प्राणियों के ऋण से उऋण होने का एक सफल तरीका हो सकता है। अन्य प्राणियों के उपकार का अनावश्यक कर्जदार होना भी एक अच्छी बात नहीं है; क्योंकि उसकी भी वही अवस्था हो सकती है जो एक साधारण कर्जदार की होती है अतः मैं तो कहता हूँ कि इस नये वर्ष में ऐसा कर्जा आप पर अधिक न हो, बल्कि पहले का भी घटता रहे। इसी में नये वर्ष की सफलता है।

नवीनता के अनुगामियों में जीवन-विकास की ऐसी एक निष्ठा होनी चाहिए कि संसार के कोई भी प्रलोभन उनके लिए अग्राह्य हो।

भागवत में भी एक रूपक आया है कि—गोपियाँ कृष्ण की भक्ता थीं, उनकी एकनिष्ठ भक्ति से देवता प्रसन्न हुए और गोपियों को कहा कि हम तुम्हें वैकुण्ठ में ले चलते हैं। गोपियों ने पूछा कि क्या वैकुण्ठ में हमारे आराध्य देव कृष्ण हैं? तो देवता ने उत्तर दिया कि वे तो व्रज में हैं, इस पर गोपियाँ कहने लगीं—

व्रज वालु म्हाने वैकुण्ठ न थी आव वुं।
त्यां नंदनो लाल क्यां थी लाव वुं॥

तात्पर्य यह है कि कृष्ण से रहित स्वर्ग में जाना गोपियों को भी नहीं भाया, फिर समझ में नहीं आता कि आज अधिकांश लोग शुद्ध आत्म-विकास की भावना हीन होकर धर्माचरण की नीव किन्हीं प्रलोभनों पर क्यों खड़ी करते हैं। नवीनता का

अनुगामी सम्यग् साधना करना जानता है—अपने अन्तरस्थ आनन्द और आत्मीय चरम विकाश के लिए, किन्हीं प्रलोभनों को प्राप्त करने के लिए नहीं।

अतः इस अवसर पर निष्कर्ष रूप में मैं यही कहना चाहता हूँ कि नव वर्ष दिवस पर आप सच्चे त्यागमय जीवन की जागृति करें ताकि जीवन को सच्चे अर्थों में सफल बना सकें, व्यावहारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन दोनों का सम्यक् संतुलन और सही अर्थों में समन्वय जीवन में स्थापित कर आत्मीय सर्वाङ्गीण विकास कर सकें। आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला शुद्ध व्यवहारिक जीवन पर टिकी हुई है—"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा" अतः व्यवहारिक जीवन में भी सत्य नवीनता फूंकना उतना ही आवश्यक है।

व्यवहारिक जीवन को संयम पूर्वक सफल बनाने की कुछ कुंजियाँ बताई गई है कि समय की अव्यवस्था मिटा कर प्रत्येक कार्य में विवेक पूर्वक नियमितता लाना, आत्म निर्भर होकर गृहस्थावस्था में भी स्वलक्ष्यानुरूप उत्तरदायित्व का ध्यान रखना। चारित्र की महता को दैनिक जीवन में उतारना, आय और व्यय को असंतुलित नहीं रखना, कुसंगति से दूर रहने का ख्याल रखना, सब के साथ शिष्ट व शोभनीय व्यवहार का उपयोग रखना, पूर्ण विचार पूर्वक सही दिशा में सोचे बिना कोई भी कार्यारम्भ नहीं करना आदि, जिन्हें प्रयोग में न लाकर

लौकिक जीवन में भी संयम का एक सरस संतुलन पैदा किया जा सकता है।

इस तरह के जीवन की पुष्टता आध्यात्मिक जीवन में सजग प्रेरणा व नवीनता का संचार उत्पन्न करेगी। समय तेजी से बदलता और बढ़ता जा रहा है, ऐसी स्थिति में बुद्धिमत्ता इसीमें है कि सही नवीनता (आत्म ज्योति) के महत्व को हृदयंगम करके आज का मानव सही प्रगतिशीलता की ओर गति करने में पीछे न रहे।

सब्जी मंडी, दिल्ली, ७-४-५१

धर्म का धरातल (१)

❀ धर्म की दिशा

"धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े वसो,
प्यारो प्राण समान........."
कवहूं न विसरूं हो चितारूं नहीं,
सदा अखंडित ध्यान........

एक किसान अपने खेतों के वीच वैठ कर तभी मल्हार राग गाता है, जव कि उससे पहिले वह भूमि को जोत चुका हो—उसकी कृषि योग्य शुद्धि कर चुका हो। मल्हार राग से उसके वाद वह वर्षा का इसीलिये आह्वान करता है कि जल उसके खेतों को सींच कर वीज-वपन के वाद लहलहाती हुई हरितिमा के रूप में वदल दे। अगर किसान वर्षा के पूर्व अपनी भूमि को कृषि के योग्य न वनावे तो वाद की वर्षा से श्रम करके भी वह कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकता है। भूमि के निर्माण के विना कार्यसिद्धि संभव नहीं मानी जाती है। साध्य प्राप्ति तथा उसके लिये उपयोग में लाये जाने वाले साधनों से भी पूर्व उसके अनुकूल धरातल की रचना अधिक आवश्यक होती है।

तो आज हम भी कवि विनयचन्द जी के शव्दों में धर्म जल की हमारे हृदयों में वर्षा के लिये भगवान् धर्मनाथ के प्रति

'मल्हार राग' गा रहे हैं कि हे धर्मनाथ जिनदेव! आप मुझे अपने प्राणों की तरह प्रिय लगते हैं और इसलिये आप मेरे हृदय-मन्दिर में निवास कीजिये। आपके आदर्श अनुकरण के जल-सिंचन से मेरा हृदय श्रेष्ठ आत्मीय गुणों से हरा-भरा हो जायगा। लेकिन क्या इस प्रार्थना के करने के पहिले हमें यह नहीं देखना होगा कि धर्म को हृदय में विराजने के आह्वान के पूर्व उसके धरातल का निर्माण किया गया है या नहीं? यदि प्राथमिक हृदय-शुद्धि नहीं की और धर्म का आह्वान किया तो क्या उसका निवास चिरस्थायी भी हो सकेगा? यह सोचने की बात है।

भगवान् धर्मनाथ साक्षात् धर्म के ही प्रतीक हैं और धर्म को धारण करने का जब कोई शुभ संकल्प कर रहा हो तो यह निश्चय है कि उसे अपने अन्तःकरण की पूरी शुद्धि कर लेनी पड़ेगी। इस शुद्धिकरण की कसौटी यह होगी कि इस तरह धरातल की रचना हो जाने के बाद धर्म के वास्तविक स्वरूप की उत्कृष्टता भलीभांति हृदयंगम हो जायगी।

विभिन्न ग्रंथों में धर्म की विभिन्न व्याख्याएँ की गई हैं, उनमें विभिन्न दृष्टिकोण होते हुए भी किसी दृष्टि से तात्पर्य्य की समता दिखाई देती है। जैन-शास्त्रों में साध्यगत धर्म की एक व्याख्या की गई है, वह अतीव संक्षिप्त है किन्तु सारगर्भित भी कम नहीं है। धर्म के वास्तविक एवं मूल रूप को सरलतापूर्वक

समझने की दृष्टि से उस व्याख्या का कुछ विशेष महत्त्व भी है। वह व्याख्या कहती है—

"वत्थु सहावो धम्मो"

सीधा सा अर्थ है—जो वस्तु का (मूल) स्वभाव है, वही (निश्चय नय की दृष्टि) से उसका धर्म है। यह छोटी सी व्याख्या इतनी स्पष्ट है कि इससे कई भ्रान्त धारणाओं का जाल समझ के बीच नहीं आता।

धर्म कोई विशिष्ट प्रक्रिया या पद्धति ही नहीं, वल्कि एक स्थिति भी है या अधिक स्पष्ट शब्दों में वही सनातन स्थिति है, जिसे हम निर्विकार, वीतराग या ऐसी ही उच्चतम स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं। "धारयतीति धर्मः"—इस कथन का यही अभिप्राय है कि जब आत्मा विकार की दशा में फंस कर अपने विकासशील स्वभाव से अलग हो जाता है, गिरने लगता है तब उससे सजग होकर जिस वास्तविक मूल स्थिति को वह प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ता है और आत्मगत स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही धारण करने की स्थिति होती है, धर्म की मंजिल कहलाती है।

एक उदाहरण द्वारा धर्म की इस सूक्ष्म व्याख्या का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक होगा। एक लकड़ी का टुकड़ा है—उसका मूल स्वभाव है कि वह पानी पर तैरता रहे और इस दृष्टि से यही उसका धर्म कहलायगा। यहाँ यह शंका उठ सकती है कि चोर का स्वभाव चोरी करना है तो क्या यही उसका धर्म

हुआ ? इसके लिये यह समझना जरूरी है कि स्वभाव के अतिरिक्त विपरीत स्थिति क्या होती है, विभाव क्या होता है ? वही लकड़ी का टुकड़ा जो पानी पर तैरता ही है, अगर लोहे के आवरण में वन्द कर दिया जाय और पानी में डाला जाय तो वह अवश्य ही तैरने के वजाय पानी के भीतर डूबने लगेगा। लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि लकड़ी के टुकड़े का स्वभाव पानी में डूबने का है। क्योंकि वह टुकड़ा डूबा नहीं है, किसी वाह्य स्थिति से वलात् डुबाया गया है। वह अपने आवरण की जकड़ से डूबता है, अपने स्वभावसे नहीं डूबता। इसका कारण है कि ज्योंही उसका आवरण ढीला हो और वह उससे छूट जाय तो टुकड़ा तुरन्त तले से ऊपर पानी की सतह पर उठ आयगा। इसलिये आवरण के बोझ से उस टुकड़े का पानी में डूब जाना उसका स्वभाव नहीं वल्कि स्वभाव से विपरीत स्थिति—विभाव हुआ। तो चोर भी चोर होने से पहिले मनुष्य है और चोरी का उसके स्वभाव पर लौह आवरण है जो उसे मनुष्यता की विपरीत वृत्ति में उलझा कर पतन के गहरे गर्त में डुबाता चला जाता है। अतः उसका चोरी करना उसका धर्म नहीं, अपितु अधर्म या विभाव होना कहा जायगा।

अतः यह विचारणीय है कि स्वभाव व विभाव के विभेद को गहराई से समझा जाय। इस समझ के आधार पर ही धर्म का स्वस्थ धरातल तैयार किया जा सकता है। स्वभाव और

विभाव की पहचान कर लें और फिर स्वभाव में रमण करने की प्रवृत्ति पैदा हो—यही धर्म का धरातल है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि मूल स्वभाव की पहिचान कैसे की जाय और हमारा मूल स्वभाव क्या है? इसके लिये निजत्व की पहिचान की जाय और उस वातावरण की पहिचान की जाय जो हमारे अपनेपन को घेरे हुए है। इन दोनों के सम्बन्धों पर अपनेपन की कसौटी करना आसान हो जायगा; क्योंकि ज्योंही कोई वस्तु अपने बाह्य वन्धनों से यत्किंचित् भी मुक्ति पाती है कि आवरण से छुटे हुए लकड़ी के टुकड़े की तरह ऊपर उठती हुई वह अपने मूल स्वभाव की ओर गति करने लगती है। आत्मा का भी ऐसा ही स्वभाव है। जब तक वह निजत्व से विलग बाह्य पौद्गलिक वन्धनों में बंधी रहती है, मानो वह डूबी रहती है किन्तु उन बन्धनों से ज्यों २ वह छूटती जाती है, वह हल्की होकर ऊपर उठती है। इस अवस्था में उसका उत्थान होता चला जाता है और जब वन्धनों की आखिरी कड़ियाँ भी टूट जाती है तो वह अपने चरम विकास को प्राप्त कर लेती है या दूसरे शब्दों में उसे यों कहिये कि वह अपने मूल स्वभाव में पहुंच जाती है। मूल स्वभाव को प्राप्त कर लेने की स्थिति ही चरम विकास की द्योतिका है और वही धर्म में स्थित होने की अवस्था है। विकास की इसी दृष्टिकोण से मनुष्य जब अपने सभी प्रकार के बाह्य बन्धनों को ढीला करता हुआ ऊपर उठने लगता है तो यही उसके धर्म की दिशा है और बाह्य बन्धनों को

ढीला करने का जो वह अपना निश्चयात्मक मन बनाता है, वही धर्म के लिये धरातल बनाने की बात है। किन्तु इस धरातल बनाने और इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये धर्म की कसौटी का अवश्य ही ज्ञान हो जाना चाहिये।

यह तर्क की नहीं, शुद्ध आन्तरिक अनुभूति की वस्तुस्थिति है कि जब हम बाहर की किसी भी विवशता से दूर होकर निर्भयतापूर्वक शुद्ध अन्तःप्रेरित किसी कार्य में संलग्न होते हैं तो उसमें हमें एक अनोखे आनन्द का अनुभव होता है। किसी दारुण दृश्य को देख कर पाषाण हृदय में भी करुणा की एक धुंधली ही सही पर रेखा अवश्य खिंच जायगी और उसको समझ कर जब वह उससे सम्बन्धित किसी सहायता कार्य में अपने आपको लगायगा तो उससे उसका स्वार्थ सम्बन्ध न होते हुए भी एक अन्दर का मीठा २ सा आनन्द उसे अवश्य मिलेगा। यह आनन्द ही मनुष्य के बाह्य आवरणों को ढीला करता है और उसे ऊपर उठाते जाने में मदद करता है।

परन्तु इस 'आनन्द' को भी सही तौर पर परखा जाना चाहिये; क्योंकि वास्तविक आनन्द की दूसरी स्थिति है और आनन्द का गलत आभास होना अलग बात है। इसलिये वास्तविक आनन्द की अगर व्याख्या की जाय तो उसके अनुसार वह आनन्द ही अखूट व अबाध आनन्द होता है जो न तो भय की आशंकाओं से विगलित हो रहा हो और न ही किसी बाहरी प्रेरणा से वह एक बार प्राप्त होने के पश्चात् नष्ट-भ्रष्ट हो

सके, बल्कि जो अन्तस्तल की अनुभूत गहराइयों से उत्पन्न हुआ हो और जिसकी निरन्तर एवं अक्षय रूप से वृद्धि ही होती चली जाती हो। ऐसा ही आनन्द अन्तर का आनन्द होता है, जो उत्थानगत अवस्था में मिलता है।

अतः जिन पवित्र कार्यों को सम्पादित करने के समय ऐसे आनन्द की अनुभूति होती हो तो अवश्य ही उन कार्यों को धर्म के बलिष्ठ साधन माने जाने चाहिये। ऐसे कार्यों की भूमिका में ही निश्चय किया जाना चाहिये कि हमारा जीवन अपने मूल स्वभाव की ओर प्रगति कर रहा है।

आनन्दाभास को स्पष्ट न समझ सकने की स्थिति में यह शंका पैदा हो सकती है कि स्वादिष्ट खाद्यों व सुन्दर वस्त्रों आदि के उपभोग में भी भारी आनन्द मिलता है और उनके और उनके निरन्तर उपभोग से वह निरन्तर मिलता भी रहता है। इसके लिये दो बातों का विचार करना पड़ेगा। एक तो अगर जिस पदार्थ से आनन्द मिलता है तो उसके अधिकाधिक उपभोग में अधिकाधिक आनन्द मिलना चाहिये; किन्तु खाद्य पदार्थों आदि के उपभोग में ऐसा नहीं होता। 'अति' करने पर उस उपभोग का कष्टप्रद परिणाम स्पष्ट हो जाता है। लेकिन जो आनन्द अन्तर से उद्भूत होता है, भाव मन की बुनियाद पर महल बनाता है, उसके टूटने की कभी भी आशंका नहीं होगी। दूसरे इसी तरह बाह्य पदार्थों का आनन्द उन्हीं पर निर्भर होता है। अगर वे पदार्थ नहीं मिले तो आनन्द भी नहीं मिलेगा।

अन्तर का जो आनन्द है वह स्वाश्रयी होता है क्योंकि उसकी आधारशिला स्वयं ही की अनुभूतियों पर टिकी होती है। अतः वास्तविक आनन्द न तो सीमित होता है और न परावलम्बी ही। बाह्य उपभोगों का आनन्द आत्म प्रवंचना व विभाव की उपज होती है जो भय, परावलम्बन या क्षणिकता पर टिका हुआ होता है। इस आनन्द का अन्त भी सदैव दुःखपूर्ण होता है। जहाँ भी आनन्द का परिणाम दुःख में बदल जायगा—ऐसी तनिक-मात्र भी शंका हो, वहाँ समझना चाहिये कि वास्तविक आनन्द नहीं है। क्योंकि आनन्द का परिणाम सुखमात्र ही होता है।

आनन्द की इस अनुभूति को स्पष्टतः समझ लेने के बाद यह कठिन नहीं होगा कि मनुष्य अपने कार्यों के सदासद होने का निर्णय न कर सके। क्योंकि इससे कार्यों के पहिचान करने की असल कसौटी ही उसे मिल जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का मन बाहर के आनन्दाभासों में भटक कर अन्दर की ओर शोध करेगा, तब उसके अन्तःकरण में धर्म के शुद्ध धरातल का निर्माण होगा। वह धरातल तब उसे ऐसे कार्यों को करने की प्रेरणा देगा, जिनसे उसे वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सके, जो आत्मा के हलकी होते जाने की दशा में मिलता है।

इस तरह के कार्य उसे पहले भले ही बाहर से आनन्दकारी महसूस न हो; पर वे अन्तःप्रेरित होंगे और इसलिये उन्हें पूरा करते हुए एक अनुपम आनन्द का अनुभव उसे धीरे २ होगा

उनको आमंत्रण देना है। यह कोई साधारण पुरुष को आमंत्रण देना नहीं है। सांसारिक कार्यों में जब आप किन्हीं साधारण व्यक्तिको भी आमंत्रण देते हों तो घर की सजावट, रसोई की बढ़िया तैयारी आदि कई बातों की तरफ ध्यान दिया जाता है और कुछ विशिष्ट व्यक्ति हों तब तो घर की जैसे कायापलट कर देते हो। तब गहराई से सोचने की बात है कि भगवान् धर्मनाथ को अर्थात् धर्म लक्ष्य को हृदय में पधारने का निमंत्रण दें तो हृदय की कितनी तैयारी व शुद्धि की जरूरत पड़ेगी—धरातल को कितना स्वस्थ व सुन्दर बनाना पड़ेगा ?

परन्तु साधारणतया देखा जाता है कि अन्तःकरण की बिना शुद्धि किये ही धर्माराधन किया जाता है—भगवान् धर्मनाथ को हृदय में पधारने का आमंत्रण दिया जाता है। आप ही उस किसान को क्या कहेंगे जो बिना खेत को जोते और कृषि-योग्य बनाये ही वर्षा को बुलाने के लिये 'मल्हार' राग गाने के लिये बैठ जाय ?

इसलिये भगवान् धर्मनाथ से 'मुझ हिवड़े बसो'—की प्रार्थना करने से पूर्व अपनी हृदयस्थिति—धरातल की दशा की ओर ध्यान देना आवश्यक है। स्वार्थसिद्धि या आत्मकीर्ति के मिथ्या मोह में पड़ कर भी जैसे अधिकांश मनुष्य किसी उच्चाधिकारी को अपने भवन में ठहराने के लिये लालायित रहते हैं और उसे सब तरफ से स्वच्छ रखते हैं। किन्तु रातदिन का परिचित भंगी स्वयं आकर अगर यह निवेदन करे कि कृपा कर दो दिन के

लिये आप यह भवन मुझे दे दीजिये, मैं इसमें केवल विष्ठा के कुछ टोकरे रखूंगा, मगर स्वच्छ भवन को गन्दा करना आपको मंजूर नहीं होता—इस भय से कि भवन के गन्दे हो जाने पर इसमें स्वच्छ रहने वाले उच्चाधिकारी कैसे ठहर सकेंगे? तो आपको लौकिक व्यवहार में भी इतनी सतर्कता है, फिर अपने हृदय की ओर देख कर आपमें पैनी सतर्कता क्यों नहीं पैदा होती? अपने अन्तःकरण रूपी भवन में शुद्ध बुद्ध परमात्मा को ठहराने के लिये उसे काम क्रोधादि अशुचि से स्वच्छ रखना चाहिये, क्योंकि शुद्ध व्यक्ति शुद्ध भवन में ही ठहर सकता है। अन्तःकरण की शुद्धता में शुद्ध धर्म भावना ही उत्पन्न हो सकती है। एक फारसी कवि ने तो कहा है—

"गैर हकरामी देही दर हीरी में दिल चरा—"

अर्थात् हे मनुष्य, तू अपने हृदयरूपी भवन में परमात्मा के अतिरिक्त किसी को स्थान मत दे। और परमात्मा धर्म का प्रतीक है तथा धर्म है विश्व में अपने आपको व्याप्त कर अपने मूल स्वभाव की ओर गति करना। किन्तु हृदय के विकारों से मुक्त हुए विना उसमें धर्म का प्रवेश नहीं हो पाता।

जहाँ राम तहं काम नहीं, जहाँ काम, नहिं राम।
दोनों संग में ना रहे, राम काम एक ठाम॥

भगवान् अर्थात् आत्मा का चरम विकास और विकारों की गन्दगी एक ही स्थान पर नहीं रहते। जहाँ भगवान्-धर्म है वहाँ गन्दगी नहीं और जहाँ गन्दगी है, वहाँ धर्म नहीं।

अतः धर्म की दिशा में आगे बढ़ने का सबसे पहला और सबसे ऊँचा साधन है कि अन्तःकरण को निर्मल एवं शुद्ध बना कर धर्म के लिये समुचित धरातल का निर्माण किया जाय ताकि भगवान् को आमंत्रण देना—धर्म के लक्ष्य को प्राप्त कर सकना सफल बन सके। बिना अन्तःकरण को शुद्ध किये ही भगवान् को आमंत्रण देने का स्वांग रचना वास्तव में भगवान् का अपमान करना है। धर्म की दिशा को समझ कर उसके अनुकूल धरातल का निर्माण नहीं करना और धर्माराधन का प्रयास करना अयोग्यता का सबूत देना है। धर्म की दिशा में आगे बढ़ने से पूर्व यह सोचा जाना परम आवश्यक है कि मैं इस दिशा में बढ़ने की भावना और योग्यता भी रखता हूं या नहीं और इसे सोचने का अर्थ ही यह है कि किसान खेती से पहले जिस तरह जमीन देखता है, उसी तरह हमें अपने अन्तःकरण को टटोल—शोध कर हमारी योग्यता का पहले भान कर लेना होगा।

अन्तःकरण की शुद्धि ही वह प्रबल भूमिका है, जिसके आधार पर आत्मा धर्म की ओर बढ़ने और वहां तक पहुंचने की शक्ति एकत्रित करता है, अतः अन्तःकरण की शुद्धि के उपायों पर गंभीरता पूर्वक विचार कर लेना आवश्यक है।

धर्म का धरातल (२)

❁ अन्तःकरण की शुद्धि

"धर्म जिनेश्वर, मुझ हिवड़े वसो,
प्यारा प्राण समान..........."

यदि किसी साध्य को प्राप्त करना है तो उसके लिये उपयुक्त साधन की शोध लेना होगा और उस साधन को सहायक बनाया जाय—ऐसा भावनात्मक धरातल भी बना लेना होगा। आपने यह जाना कि धर्म की चरम विकासमय स्थिति तक पहुंचने के लिये पहले यह आवश्यक है कि उसके लिये योग्य धरातल का निर्माण किया जाय और वह धरातल है अपने अन्तःकरण का शुद्धिकरण। पवित्र मानस के राजमार्ग पर जब आत्मा विचरण करने लगेगा तो अवश्य ही एक दिन वह धर्म की मंजिल तक भी पहुंच जायगा।

इसलिये अन्तःकरण की शुद्धि के लिये मनुष्य को अपने अन्तरतम में झांकना होगा, अपनी आलोचना स्वयं करनी होगी और देखना होगा कि वह अपने विकारों को किस प्रकार नष्ट करके पवित्रता के स्वरूप को पहचान पायगा? उसे परखना होगा कि उसने धर्म के आह्वान के लिये योग्य भूमिका की रचना कर ली है और उसके बाद वह भगवान् धर्मनाथ को हृदय में

अतः धर्म की दिशा में आगे बढ़ने का सबसे पहला और सबसे ऊँचा साधन है कि अन्तःकरण को निर्मल एवं शुद्ध बना कर धर्म के लिये समुचित धरातल का निर्माण किया जाय ताकि भगवान् को आमंत्रण देना—धर्म के लक्ष्य को प्राप्त कर सकना सफल बन सके। बिना अन्तःकरण को शुद्ध किये ही भगवान् को आमंत्रण देने का स्वांग रचना वास्तव में भगवान् का अपमान करना है। धर्म की दिशा को समझ कर उसके अनुकूल धरातल का निर्माण नहीं करना और धर्माराधन का प्रयास करना अयोग्यता का सबूत देना है। धर्म की दिशा में आगे बढ़ने से पूर्व यह सोचा जाना परम आवश्यक है कि मैं इस दिशा में बढ़ने की भावना और योग्यता भी रखता हूं या नहीं और इसे सोचने का अर्थ ही यह है कि किसान खेती से पहले जिस तरह जमीन देखता है, उसी तरह हमें अपने अन्तःकरण को टटोल—शोध कर हमारी योग्यता का पहले भान कर लेना होगा।

अन्तःकरण की शुद्धि ही वह प्रबल भूमिका है, जिसके आधार पर आत्मा धर्म की ओर बढ़ने और वहां तक पहुंचने की शक्ति एकत्रित करता है, अतः अन्तःकरण की शुद्धि के उपायों पर गंभीरता पूर्वक विचार कर लेना आवश्यक है।

सहु साधन बन्धन थया, रह्यो न कोय उपाय।
सत् साधन समझ्या विना, ते बन्धन किं जाय॥

वे कहते हैं—हे प्रभु, मैं तो अनन्त दोषों का पात्र हूं और ऐसी स्थिति में भी मेरे पास विकास का कोई साधन नहीं है, न एक भी ऐसा सद्गुण है कि मैं गौरव से मुँह दिखा सकूं। सारे प्राप्त साधन भी मेरे लिये बन्धन के रूप हो गये हैं, क्योंकि सत्य साधन जब तक मैं न प्राप्त कर लूं, उन बन्धनों को कैसे काट सकता हूं?

इस प्रकार की सलज्ज आत्मलघुता की भावना में मनुष्य का सारा छल-छद्म व मिथ्या अभिमान गल कर बह जाता है व उसका हृदय धुल कर स्वच्छ स्फटिक सा बन जाता है। वास्त-विक भावुकता के साथ अपनाई जाने वाली अनुभूति मनुष्य को सत्य साधनों की स्पष्ट राह दिखा देती है।

आजकल महापुरुषों की कथाओं व उनके सदुपदेशों को सुन कर कई लोग उस राह की ओर बढ़ने की इच्छा करते हैं किन्तु उस तरफ गति करने के लिये जिस तरह के धरातल का निर्माण करना होता है वह वे नहीं कर पाते और उसका परि-णाम होता है कि वे आगे बढ़ने की बजाय अधिक विनाशकारक बन्धनों के बीच घिर जाते हैं। इसका प्रधान कारण यही देखा जाता है कि धरातल के निर्माण की भूमिका में आत्म-प्रशंसा, यश लालसा तथा अहंकारपूर्ति अथवा स्वार्थसिद्धि का कुटिल जाल फैलाया हुआ होता है। वैसी अवस्था में निष्काम वृत्ति के

अभाव में अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती है और ऐसी दशा मनुष्य को अभिवांछित पथ पर आगे बढ़ने देने से रोकती है। इस सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में कहा है—

नो इहलोगट्ठयाए तव महिठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तव महिठिज्जा।
नो कितवन्न सद्दसि लोगट्ठयाए तव महिठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तव महिठिज्जा ॥

—दशवैकालिक सूत्र अध्याय ६ गाथा ४ ॥

अर्थात्—मनुष्य तप आदि द्वारा हृदय शुद्धि करे तो इस भावना के साथ कि ये तप जप आदि साधन न मुझे इस लोक में सुख सम्पत्ति वा कीर्ति प्रदान करे, न परलोक में। यह साधना केवल मैं अपने कर्मों को काटने के लिये ही कर रहा हूं—ऐसी निष्काम वृत्ति ही सही तौर पर आत्मा को सारे बन्धनों से छुटकारा दिला सकती है।

श्रीकृष्ण ने भी गीता में इसी निष्काम वृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि मनुष्य में तो कर्म करते रहने की प्रधान भावना होनी चाहिये, उसके फल के प्रति वांछा करना उसका काम नहीं—

कर्मण्ये वाधिकारस्ते,
मा फलेषु कदाचन।

तो धर्म के धरातल का निर्माण अन्तःकरण की शुद्धि पर आधारित होना चाहिये, जिसके साधन हैं—आत्मलाघवता,

विनम्रता, निष्काम वृत्ति आदि। जब तक मनुष्य अपने भीतर सहज विनम्रता व लाघवता का अनुभव नहीं करता, वह स्पष्ट रूप से तब तक अपने दोषों को नहीं पहचान सकता है; आत्म-प्रवंचना उसे भुलावा देती रहेगी। जब धर्म हमारे विशुद्ध मूल स्वभाव का ही पवित्र नाम है तो उस मूल स्वभाव की मार्मिकता को पाने के लिये दोषरहित हृदय में निष्काम वृत्ति का प्रवेश होना चाहिये। कामनाओं से मुख मोड़ना ही एक तरह से विषमय सांसारिकता को छोड़ना है और आत्मोत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ना है।

इस दृष्टिविन्दु से जब वर्तमान समाज की परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज के धार्मिक व पुण्य कृत्यों में अधिकतर कीर्तिलिप्सा की दुर्गन्ध है। अपना नाम कमाने के लिये लोग लाखों की सम्पत्ति भी दे देंगे, चाहे उसका सदुपयोग हो अथवा नहीं। किन्तु जहां सच्ची आवश्यकता है; पर नाम कमाने का सुअवसर नहीं; तो कम ही उदाहरण सामने आते हैं कि लोग निष्काम वृत्ति से दान दे डालें।

मूल में बात यह है कि अन्तर की तरल वृत्तियों को भूल कर आज का मनुष्य वाहर के आडम्बरों में अपने आपे को खो सा वैठा है। वहिनें भी पूरी साधना के साथ आठ-आठ दिवस व मास-मास तक की तपश्चर्या करती हैं किन्तु कोई आश्चर्य नहीं कि वहुत-सी वाइयों के दिल में यह कामना आ

जाती होगी कि तपश्चर्या के पूर में उनकी सराहना होगी, वे वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर सुमधुर वाद्य यंत्रों के साथ नगर का शान के साथ परिभ्रमण करेंगी; क्योंकि कभी २ ऐसा देखा जाता है कि ऐसे बाह्याडम्बरों का जिन बहनों को योग नहीं मिलता, उनमें वैसी ऊँची तपश्चर्याके बावजूद भी जैसा चाहिये, उस तरह का उत्साह नहीं दिखाई देता।

अतः अभिप्राय यह है कि संसार की आंखों में धूल झोंकने वाले मिथ्या आडम्बरों से परिपूर्ण अन्तःकरण का ऐसा रूप सही दिशाओं में बन्धनों को काटने वाला नहीं, धर्म की दिशा में आगे बढ़ाने वाला नहीं, अपितु जटिल बन्धनों का पोषक रूप भी हो जाता है। चन्दनबाला के हृदय की उच्चतम सरलता को ग्रहण किये बिना अगर कोई देहली में कच्चे सूत की आटियाँ लेकर बैठे और साधुओं की प्रतीक्षा करने का भ्रामक नाटक रचे तो उस बाह्य कृत्य से आत्मोद्धार होने वाला नहीं है। उसके लिये तो हीन स्वार्थों से ऊपर उठ कर हृदय में सहज स्वाभाविकता का समावेश कर लेना पड़ेगा; जिसकी बुनियाद पर विकासकारी साधन अपनाये जा सकें। इसलिये आत्मविकास व धर्मधारण के जो भी साधन ग्रहण किये जांय, उनमें यह देखने की पहली आवश्यकता है कि उनके नीचे अभी तक मिथ्या अहंकार एवं क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति की छिछली कामनाओं का ही धरातल तो नहीं पड़ा हुआ है? क्योंकि उस उबड़ खाबड़

धरातल पर साधक के पांव सरलता व दृढ़तापूर्वक चल नहीं सकेंगे, कहीं न कहीं फिसल जायेंगे—चोट खा जायेंगे।

यह विचारणीय स्थिति होती है कि हृदय की तृष्णाभरी कामनाएँ और आडम्बर वृत्ति किस प्रकार मनुष्य के ज्ञान चक्षुओं को बन्द कर देती है कि वह अपने हिताहित का मार्ग ही विस्मरण कर जाता है। राजा दशार्णवभद्र की कथा इस स्थिति का कुछ स्पष्टीकरण करती है।

एक समय ऐतिहासिक प्राचीन नगर दशपुर (मन्दसौर) का अधिपति दशार्णवभद्र अपने समस्त वैभव से सज्जित होकर भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिये निकला। अपने उस असाधारण वैभव को सज्जा समेत देख कर उसे अहंकार होने लगा कि सारी पृथ्वी पर मेरे समान वैभवशाली भूपति दूसरा नहीं होगा। वह सोचने लगा—मेरी यह सारी ऋद्धि मेरी शक्ति की परिचायिका है, संसार में कोई भी मेरे इस सौभाग्य के साथ होड़ नहीं कर सकता। इस तरह अभिमान का मिथ्या मद उसे चढ़ता ही गया। इस स्थिति को देख कर इन्द्र को उसे यथास्थान लानेका खयाल आया। अतः देवराज अपने श्वेत ऐरावत हाथी पर विराज कर आकाश मार्ग से नीचे उतरने लगे। ज्यों २ आकाश मार्ग को पार करता हुआ ऐरावत नीचे उतरता आता था, उसपर अधिकाधिकपुष्पवृष्टि होती जाती थी। धीरे २ वह ऐरावत वहीं उतरने लगा, जहां सामने से अहंकार

मद में मतवाला बना दशार्णवभद्र राजा अपने हाथी पर चढ़ कर चला आ रहा था।

उसी समय ऐरावत हाथी की महत् शोभा की ओर दृष्टि पड़ते ही राजा दशार्णवभद्र को ऐसा लगा, जैसे वह किसी स्वप्निल संसार का दृश्य देख रहा हो। ऐसा ऐरावत हाथी, जिसके पांवों में सोने के नूपुर, विशाल भाल पर चित्रमय कलाकृति दोनों ओर निरन्तर निनादित होने वाली स्वर्ण घंटिकाएँ, पृष्ठ भाग पर रत्नखचित सुरम्य स्वर्ण सिंहासन, कम्पायमान दोनों कर्ण कुहेरों में दीप्तिमान कर्ण फूल, विस्तृत ग्रीवा में रत्नमयी मोहिनी महामाला और निम्न पृष्ठभाग में स्वर्ण मेखला। किन्तु इससे अधिक रमणीय दृश्य था ऐरावत के चन्द्रवत् विशुभ्र द्विदन्तों पर—जैसे वहां रत्नजटित वापिकाएँ बनी हुई हैं, उनमें बहुलता से नील कमल विकसित हो रहे हैं और उन नील कमलों पर सौन्दर्यमूर्ति चंचल अप्सराएँ अत्यन्त हावभाव से आकर्षण लय के साथ नृत्य कर रही है।

ऐसे ऐरावत पर देवराज को विराजित देख कर राजा दशार्णवभद्र को लगा जैसे किसीने आकाश में ऊँची उड़ाने भरते हुए उसके मन को कठोर धरती पर दे पटका हो। कहाँ तो वह अपने क्षुद्र वैभव से ही गर्वित और कहाँ इस वैभव की अनुपम शोभा ? वह लज्जित हो उठा अपने ही प्रत्यक्ष मिथ्यासिद्ध अभिमान पर और पश्चात्ताप करने लगा अपनी ही हीनता पर कि उसे क्यों निरर्थक बाह्याडम्बरों पर मिथ्या अभिमान हो

गया था ? उनकी विचारश्रेणी ऊपर उठने लगी, उनमें आत्म-लाघवता की अनुभूति बढ़ने लगी और वे दशार्णवभद्र राजा, जिन्हें अपने वैभव का बड़ा गुमान था, अपने सारे भौतिक साधनों के मोह को काट कर दीक्षित हो गये। उस आदर्श परिवर्तन को देख कर तुरन्त ही देवराज द्रवित हो उठे और उनकी त्यागवृत्ति के सामने अपने वैभव की भर्त्सना करते हुए क्षमायाचना करने लगे।

इसलिये मैं इस तथ्य पर बल देना चाहता हूँ कि अपनी प्रार्थना द्वारा भगवान् धर्मनाथ को अपने हृदय में बसा लेने का आमंत्रण दें तो उससे पहिले हृदय को झूठी कामनाओं और विकारों के मेल से शुद्ध बना डालें, उसमें निरहंकार, निःस्वार्थ व विनम्र वृत्तियों का जल छिड़क कर निष्काम भावना की सज्जा फैला दें कि भगवान् का भव्य रूप भागता हुआ आपमें आकर मिल जाय।

कथा प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण ने कालिया नाग को नाथा था। इस घटना को एक आध्यात्मिक रूपक के रूप में देखा जा सकता है।

कहा जाता है कि कालिया नाग के यमुना में रहने से गोकुल में अशान्ति मची हुई थी। नाग के निवास से यमुना का जल विषमय बन गया था। एक दिन श्रीकृष्ण अपने सखाओं सहित यमुना-किनारे पहुंचे। पास ही उनकी गायें भी चर रही थीं। चरती २ कुछ गाएँ प्यास से यमुना किनारे पहुंच गईं और

उस विषमय जल को पीकर मूर्छित हो गई। श्रीकृष्ण को जब यह विदित हुआ तो वे अतीव कुपित हुए और गायों की मूर्च्छा से दुःखित होने लगे। गायों के प्रति उनकी प्रीति व सहानुभूति अनुपम थी हीं—क्योंकि इसीसे तो उनका नाम गोपाल भी पड़ा था।

श्रीकृष्ण से उन सरल गायों की वेदना सहन न की जा सकी, इसलिये उन्होंने कालिया नाग को नाथने का निश्चय कर लिया। सखाओं के साथ खेलते २ उनकी गेंद यमुना में जल में चली गई और उसे लाने के बहाने वे यमुना में उतर पड़े। सखाओं ने मना किया तो वे बोले कि अगर हम विष को काटना जानते हैं तो कैसा भी विषधर क्यों न हो, हमारा वह क्या विगाड़ सकता है? भगवान् महावीर जब चंडकौशिक सर्प की बांबी पर ही ध्यान धर कर खड़े हो गये तो वह विकराल विषधर भी उनका क्या विगाड़ सका था? उनके सान्निध्य से उल्टे वह स्वयं ही अपना कल्याण कर गया।

यमुना के गहन जल में श्रीकृष्ण के उतरते ही चारों ओर हाहाकार मच गया, सारे व्रजवासी एकत्रित हो उनकी कल्याण कामना करने लगे। वह गेंद कवि ने कल्पना की कि उस समय नागिन के पास था और नाग सोया हुआ था। छोटे से बालक को ऐसे विकट स्थान में देख, नागिन ने उनका परिचय जानना चाहा और उस समय उन दोनों में जो संवाद हुआ, उसे किसी राजस्थानी कवि ने इस तरह बयान किया है—

नागिन—

किण दिशा से आयो रे वाला, कौन तुम्हारो ग्राम है?
किण सखी रा पुत्र छो वाला, किसो तुम्हारो नाम है?
जल छांड जमुना जावो रे वाला, स्वाम हमारा जागसी।
जागसी थने मारसी तो वाल हत्या मोहे लागसी॥

नागिन ने बालक का परिचय चाहते हुए उनके निवास, माता-पिता, नाम आदि के बारे में पूछा और चेतावनी दी कि तू छोटा सा बालक मेरे नागपति द्वारा मारा जायगा और नाहक ही मुझे बाल हत्या का अपराध लगेगा, इसलिये तुम यमुना के जल से बाहर निकल जाओ।

तो कृष्ण अपना परिचय देते हैं—

दक्षिण दिशा से आयो री नागिन, गोकुल हमारा गाम है।
नन्द जशोदा को पुत्र हूँ मैं, कृष्ण हमारा नाम है॥

नागिन फिर भी उनका परिचय यथार्थ रूप में न पा सकी इसलिये उन्हें यमुना जल में भटक आने का कारण पूछने लगी—

कहो रे वाला, पंथ भूल्यौ, के थने वैरी भरमावियो।
के थारा मन में क्रोध उपज्यो, के थने कोई संतावियो॥

कृष्ण इन सब कारणों को इनकार कर कहते हैं—

नहीं रे नागिन पंथ भूल्यौ, नहीं मने वैरी भरमावियो।
नहिं मारे मन में क्रोध उपज्यो, नहिं मने कोई संतावियो॥

इस पर नागिन समझ नहीं पाती है और जैसे उस छोटे से

बालक पर तरस सा खाती हुई उसे विविध उपहार लेकर वहां से चले जाने का निवेदन करती है—

यो ले रे बाला हार हिया को, ई ले सिर की डोरियाँ।
इतना ले घर जावो रे बाला, देवां तुम्हें कर चोरियाँ॥

उस छोटे बालक को तो अपने दृढ़ निश्चय को पूरा करना था, नागिन के प्रलोभन उसे भुलावा थोड़े ही दे सकते थे? श्रीकृष्ण ने उन प्रलोभनों को अस्वीकार करते हुए उत्तर दिया—

क्या करूं नागन हार हिया को, क्या करूं सिर की डोरियाँ।
नाग ने मैं नाथन आयो, क्यों करती तुम चोरियाँ॥

इस पर तो नागिन घबरा उठी। वह छोटा बालक उसे एक प्रबल योद्धा के रूप में दिखाई देने लगा और उसे लगा कि ये अवश्य ही उसके भीमकाय नागपति को परास्त कर देंगे। तब नागिन ने नाग को जगाना चाहा—

हाथ चांप्यो, पांव चांप्या, नागिन नाग जगावियो।
उठो उठो नी बलवन्त जोधा थांसू जोरावर आवियो॥

नाग ने जग कर जब यह सुना कि उससे लड़ने को और उसे नाथने को कोई आया है तो वह क्रोध से फुफकार उठा एवं श्रीकृष्ण पर बलपूर्वक झपटा—

रीस कर क्रोध भर कर, जोश धर कर उठियो।
मुकुट लख कर झपट मारी, कृष्णजी चोट चुकावियो॥

श्रीकृष्ण के अनन्त बल के सामने वह बेचारा नाग क्या था?

उसका बल जैसे कुछ नहीं रहा, उस छोटे बालक के दृढ़ हाथों से वह पकड़ा गया, उसे नाथ दिया गया—

लपक उसकी ठुड्डी पकड़ी, काली नाग ने नाथियो।
नाग नाथी बाहर आवियां, मुरली नाद सुनावियो॥

इस घटना का आध्यात्मिक रूप इस तरह समझा जा सकता है कि श्रीकृष्ण का छोटा बालक रूप आत्मा का वह रूप है जिसमें अनन्त बल, अनन्त पराक्रम और पुरुषार्थ अप्रकट रूप में रहा हुआ है। उनके सखा और ब्रजवासी आत्मा के सांसारिक संगी साथी है, जो आत्मा को मोह में भी बांधते हैं किन्तु आत्मा का दृढ़ विकास देख कर उसे ऊपर उठाने में सहयोग भी करते हैं। उनकी गाएँ आत्मा की सद्वृत्तियां हैं, और कालिया नाग अधर्म-विभाव का साक्षात् रूप, नागिन वासनाओं व कामनाओं की संकेतिका एवं विषाक्त जल इस संसार के विकारमय वातावरण का रूप है। अब जब कि आत्मिक सद्वृत्तियाँ विकारमय वातावरण में फंस जाती है और उसमें ही मूर्छित होकर अपनी असलियत को भूल जाती है तो आत्मा में एक जागरण की भावना पैदा होनी चाहिये, उसके अन्तर से दृढ़ निश्चय प्रकट होना चाहिये कि विभाव की दशा को खतम करके, वासनाओं के प्रलोभनों को दूर करके वह विकारमय वातावरण को कुचल देगा और अपने अन्दर ऐसी शुद्धता पैदा कर देगा कि सारा वातावरण भी उस प्रभाव से विशुद्ध बन जायगा।

बालक पर तरस सा खाती हुई उसे विविध उपहार लेकर वह से चले जाने का निवेदन करती है—

यो ले रे बाला हार हिया को, ई ले सिर की डोरियाँ।
इतना ले घर जावो रे बाला, देवां तुम्हें कर चोरियाँ॥

उस छोटे बालक को तो अपने दृढ़ निश्चय को पूरा करन था, नागिन के प्रलोभन उसे भुलावा थोड़े ही दे सकते थे श्रीकृष्ण ने उन प्रलोभनों को अस्वीकार करते हुए उत्तर दिया—

क्या करूं नागन हार हिया को, क्या करूं सिर की डोरियाँ
नाग ने मैं नाथन आयो, क्यों करती तुम चोरियाँ।

इस पर तो नागिन घबरा उठी। वह छोटा बालक उसे एक प्रबल योद्धा के रूप में दिखाई देने लगा और उसे लगा कि ये अवश्य ही उसके भीमकाय नागपति को परास्त कर देंगे। तब नागिन ने नाग को जगाना चाहा—

हाथ चांप्यो, पांव चांप्या, नागिन नाग जगावियो।
उठो उठो नी बलवन्त जोधा थांसू जोरावर आवियो॥

नाग ने जग कर जब यह सुना कि उससे लड़ने को और उसे नाथने को कोई आया है तो वह क्रोध से फुफकार उठा एवं श्रीकृष्ण पर बलपूर्वक झपटा—

रीस कर क्रोध भर कर, जोश धर कर उठियो।
मुकुट लख कर झपट मारी, कृष्णजी चोट चुकावियो॥

श्रीकृष्ण के अनन्त बल के सामने वह बेचारा नाग क्या था?

उसका वल जैसे कुछ नहीं रहा, उस छोटे वालक के दृढ़ हाथों से वह पकड़ा गया, उसे नाथ दिया गया—

लपक उसकी ठुड्डी पकड़ी, काली नाग ने नाथियो।
नाग नाथी वाहर आविया, मुरली नाद सुनावियो॥

इस घटना का आध्यात्मिक रूप इस तरह समझा जा सकता है कि श्रीकृष्ण का छोटा वालक रूप आत्मा का वह रूप है जिसमें अनन्त वल, अनन्त पराक्रम और पुरुषार्थ अप्रकट रूप में रहा हुआ है। उनके सखा और व्रजवासी आत्मा के सांसारिक संगी साथी है, जो आत्मा को मोह में भी बांधते हैं किन्तु आत्मा का दृढ़ विकास देख कर उसे ऊपर उठाने में सहयोग भी करते हैं। उनकी गाएँ आत्मा की सद्वृत्तियां हैं, और कालिया नाग अधर्म-विभाव का साक्षात् रूप, नागिन वासनाओं व कामनाओं की संकेतिका एवं विषाक्त जल इस संसार के विकारमय वातावरण का रूप है। अव जव कि आत्मिक सद्वृत्तियाँ विकारमय वातावरण में फंस जाती है और उसमें ही मूर्छित होकर अपनी असलियत को भूल जाती है तो आत्मा में एक जागरण की भावना पैदा होनी चाहिये, उसके अन्तर से दृढ़ निश्चय प्रकट होना चाहिये कि विभाव की दशा को खतम करके, वासनाओं के प्रलोभनों को दूर करके वह विकारमय वातावरण को कुचल देगा और अपने अन्दर ऐसी शुद्धता पैदा कर देगा कि सारा वातावरण भी उस प्रभाव से विशुद्ध वन जायगा।

श्रीकृष्णने कालिया नाग क्या नाथा था कि जैसे उन्होंने हर आत्मा को संकेत किया कि वह अपने अधर्म-विभाव पर विजय प्राप्त करे, अन्तःकरण को शुद्ध व अटल निश्चय वाला वना कर धर्म को पाने का सरल समतल धरातल वनावे और अपने मूल स्वभाव की ओर गति करें कि वह आत्मा धर्म को प्राप्त कर ले—अपने वास्तविक गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाय।

इसलिये वन्धुओं, जो धर्मनाथ भगवान् का दृढ़ विश्वास लेकर असफलता और पतन से संघर्ष करने के लिये आगे वढ़ता है—अपने विकारों को पछाड़ता है, वह अवश्य ही अपने अन्तःकरण की शुद्धि करके धर्म की दिशा में सफलतापूर्वक प्रगति करने का ऐसा स्वस्थ धरातल वना लेता है, जिस पर चल कर न वह अकेला ही धर्म की मंजिल पर पहुंचता है, वल्कि सारे संसार और युग को भी अपनी प्रगति से प्रभावित करता है।

———

सरलता से सिद्धि

चेतन, भजन तू अरहनाथ नें,
ते प्रभु त्रिभुवन राय.......
तात सुदर्शन देवी माता,
तेतो पुत्र कहाय........

आधुनिक जगत् का समस्त वायु मंडल कुछ ऐसा विकृत हो चला है कि हर तरफ कुटिलता ही कुटिलता दृष्टिगोचर होती है। निर्दोष सरलता की झलक शिशु जीवन में दिखाई देती है किन्तु शिशु भी ज्यों २ दुनिया की हवा खाता हुआ बढ़ता चला जाता है, उसी दुनिया के रंग में रंगता जाता है और उसकी वह सरलता की वस्तुस्थिति जागतिक कुटिलता के रूप में परिवर्तित होती रहती है। ऐसा लगता है जैसे कुटिल मनोवृत्ति का साम्राज्य छाया हुआ हो। जो व्यापारी कुटिल, वही कुशल व्यापारी। जो राजनीतिज्ञ कुटिल, वही सुयोग्य राजनीतिज्ञ और ऐसा ही सभी क्षेत्रों में माना जाने लगा है। कुशलता जैसे कुटिलता की ही सहचरी हो गई है। यदि कोई व्यक्ति सरल भी हुआ तो उसकी पहली श्रेणी तो 'बेचारा भोला' और दूसरी श्रेणी में कहलाता है—"पागल"। सरलता जैसे दूषण हो गया हो, कुटिल व्यवहार की इस दुनियामें। वास्तव में बड़ी शोचनीय स्थिति इस सम्बन्ध में चारों ओर दिखाई देती है।

किन्तु यह भी हकीकत है कि दुष्कृत्यों का परिणाम अन्ततोगत्वा घातक ही होता है। कुटिलता पूर्वक मनुष्य अपने प्रत्येक दुष्कृत्य को छिपाना चाहता है और समय विशेष के लिये छिपाने में सफल भी हो जाता है एवं तब सैकड़ों हजारों दुष्कृत्य करने पर भी उन्हें छिपा सकने के कारण वह अपनी प्रतिष्ठा में कोई अन्तर आता हुआ नहीं देखता। इस तरह अधर्म वृत्ति की ओर वह अधिक वेग से आकृष्ट होता है। किन्तु इस सब को भी, जिसे दुनिया नहीं देख पाती, "एक वह है" सो देखता रहता है और इसी हेतु कवि विनयचंद जी भगवान् अरहनाथ से प्रार्थना करते हैं—

"हे चेतन और विवेकशील प्राणी! तू अरहनाथ प्रभु का ध्यान कर, जो त्रिभुवन के स्वामी हैं। क्योंकि अरहनाथ हैं अर्थात् तेरा और संसार का कोई रहस्य उनसे अप्रकट नहीं है।"

वास्तव में मनुष्य का विवेक इसी में है कि वह हर समय यह अनुभव करता रहे कि उसे कोई देख रहा है। किसी की अव्यक्त व अदृश्य आंखें उसकी ओर लगी हुई है और 'वह' देखने वाला सब कुछ जानता है कि मैं किस कार्य को किस वृत्ति व किस उपाय से कर रहा हूं? इससे उसकी मनोवृत्तियों व कार्यप्रणालियों पर एक प्रकार का स्वनियोजित नियंत्रण रह सकेगा तथा वैसा नियंत्रण उसे कुटिलता के चक्कर में फंसने से रोकेगा। इसके साथ ही उसके हृदय में सरलता की आनन्दमय तरंगें भी तरंगित होने लगेगी।

गोपनीयता सदैव सत्यविरोधिनी होती है, क्योंकि सच्चाई और छिपावट का कोई मेल नहीं। जो बात सत्य है उसे छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं और जिस किसी बात को छिपाने की कोशिश की जाती है, उसमें कहीं-न-कहीं झूठ की बू अवश्य मिलेगी। सत्य निर्भय होता है और इसलिये जो बात हृदय को खरी लगे, वह किसी एक को कही जा सकती है और जो बात एक को कही जा सकती है, वही लाखों के बीच भी उसी निर्भयतापूर्वक कही जा सकती है। जैसे गांधी जी अक्सर कहा करते थे कि उनके पास कूटनीतिज्ञों की तरह छिपाने को कुछ भी नहीं, उनके तो सभी कार्ड हमेशा मेज पर खुले पड़े रहते हैं।

किन्तु झूठ सदा डरने वाला होता है, क्योंकि रहस्य खुल जाने के भय की तलवार हमेशा उसके सिर पर लटका करती है और वह हिचकिचाता रहता है। एकान्त में बात करते हुए भी झूठे के कान चौकन्ने रहते हैं कि कहीं कोई सुन नहीं रहा हो। झूठ की हमेशा रक्षा करते रहने के लिये मनुष्य कुटिलता का सहारा लेता है और उसके सहारे से वह धोखेबाजी और विश्वासघात में सफल बनता देखा जाता है। राष्ट्रों का भी कुछ ऐसा ही हाल प्रतीत होता है—चक्करदार रहस्यभरी योजनाएँ बना कर—किसी तथ्य को अधिक से अधिक छिपा कर व उसका रूपान्तर दिखा कर दूसरे राष्ट्रों को अधिक से अधिक धोखा दिया जाय तब उस राष्ट्र के राजनीतिज्ञ विशेष निपुण माने जाते हैं। ऐसे ही प्रसारित वातावरण का प्रभाव है कि

सभी क्षेत्रों में मनुष्य लुक-छिप कर अपना काम वनाना चाहता है और इसलिये कुछ ऐसी ही कहावत चल-सी पड़ी है कि इस दुनिया में सच्चाई से तो काम चल ही नहीं सकता।

परन्तु इस सारी परिस्थिति के साथ यह नग्न सत्य भी मजबूती से जुड़ा हुआ है कि असत्य-अधर्म का भंडा फूटता ही है। लाख तौर-तरीकों से छिपाई हुई वात भी एक दिन विना प्रकट हुए नहीं रहती दिखाई देती है। यह अवश्य है कि इस कुटिलता में जो कुशल अधिक हुआ तो उस छिपावट की मियाद भले ही वढ़ जाती है, लेकिन मियाद तो मियाद ही ठहरी एक दिन तो खतम हो जाने वाली और जव वैसा जटिल रहस्य खुलता है तो भीषण प्रतिहिंसा, विरोध, ईर्ष्या और हजार बुराइयां पैदा होती हैं! इसी तरह राष्ट्रों में हिंसक युद्धों की ज्वालाएँ भभकती हैं जो जीवन वृक्ष की सरस जड़ों को जला कर भस्मीभूत कर देती है। प्रत्येक तरह से विनाश इस गोपनीयता का अन्तिम परिणाम होता देखा जाता है।

तो हमने देखा कि गोपनीयता से मिथ्यावाद वढ़ता है और उससे कुटिलना एवं कुटिलता से दुष्कृत्यों की एक वाढ़ सी आ जाती है। हर कोई मनुष्य अपने विकास की साधारण श्रेणी में सुदृढ़ हृदय वाला नहीं होता और इसलिये फिसलने का जरा-सा साधन भी उसे मिला कि उसका पतन फिर खाई में लुढ़कने की तरह वेरोकटोक वढ़ता ही चला जाता है, कल्पना कीजिये, एक आदमी को अंधेरी सड़क पर हजारों रुपयों के नोटों की

गड्डी मिल गई। उसने कोई पाप नहीं किया। किन्तु इस घटना के साथ ही उसके हृदय में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते हैं और सही संकल्प के अनुसार अगर वह इस उपलब्धि को सब पर प्रकट कर दे तो वह निष्पाप ही रहेगा। किन्तु कमजोरी उसे दबाती है, वह सोचता है—मैंने कोई पाप तो किया नहीं। अब जो चीज मिली है, उसको प्रकट करूंगा तो शायद है असली मालिक को भी पता लग जाय। इसलिये उसे वह चुपचाप रख लेता है और अगर उसमें वह कामयाब हो जाता है तो उसे स्वार्थी गोपनीयता का स्वाद लग जाता है। वह सोचने की उस श्रेणी तक भी उसके बाद बढ़ सकता है कि अगर कहीं से चोरी द्वारा भी "हजारों की नोटों की गड्डी" आवे और वह प्रकट न हो सके तो फिर पाप ही कैसा ? तो कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य की अधर्म वृत्तियाँ किस तरह जरा सा रास्ता पाकर विस्तृत होती चली ही जाती हैं ?

इस तरह ऐसी गोपनीयता की नींव पर अधर्म का महल बन जाता है जो व्यक्ति के शुद्ध आत्म तत्त्वों को अपने नीचे गाड़े रखता है। चूंकि गोपनीयता सत्य विरोधिनी होती है, इसलिये वह अहिंसा की भी तो विरोधिनी ही है। प्रवंचना का परिणाम प्रतिहिंसा अधिकतर होता ही है क्योंकि उस व्यक्ति को रोप आना व उस रोष को रोक न पाना मानवीय कमजोरियों के अनुसार संभव ही है जिसके साथ कुटिल विश्वासघात किया गया हो और कमजोर मनुष्य बुराइयों में ही तो

जल्दी धंसता है तथा उस प्रतिहिंसा की आग हिंसा के दावानल में मिल जाती है। इस प्रकार के विभत्स दृश्य चारों ओर दिखाई देते हैं फिर भी आश्चर्य है कि ऐसी कुटिलता से घृणा पैदा नहीं होती, गोपनीयता की कुत्सित मनोवृत्ति को मिटाने का दृढ़ निश्चय नहीं बनता। क्यों नहीं शुद्ध व सरल चित्त होकर कवि विनयचंद जी की तरह भगवान् अरहनाथ से प्रार्थना नहीं की जाती कि हे प्रभु, मैं सत्य और अहिंसा का गला घोंट कर कुछ भी छिपाने की भावना नहीं रखूंगा ?

यह प्रायः सबका निश्चित मत है कि अधिकांशतः बुराई से बुराई ही पैदा हो सकती है और उसकी पैदाइश की परम्परा इस तरह चल पड़ती है कि अगणित बुराइयों के टेढ़े-मेढ़े चक्र-व्यूह से बाहर निकलना दुस्वार-सा हो जाता है। एक बुराई को छिपाने के लिये न जाने कितनी और बुराइयों का आसरा लिया जाता है और यह पहले ही बताया जा चुका है कि छिपाई गई बुराई हमेशा भयंकर परिणाम लेकर ही खुलती है। अतः सरलता और सचाई का सीधा रास्ता ही यह है कि पहले अकेली बुराई को ही रहस्य बना कर छिपाये रखने की कोशिश न की जाय तथा विनम्र भाव से उस बुराई को प्रभु व अपने गुरु अथवा अपने बड़ील के समक्ष क्षमावनत होकर सबके सामने प्रकट कर दी जाय तो अगली बुराइयों की जड़ें ही कट जाती हैं।

परन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब कि हृदय में सरलता का

तरल प्रवाह प्रवाहित हो रहा हो अन्यथा कुटिलता तो इसी बात पर विवश करती है कि बुराई को छिपाई जाय, क्योंकि उसकी कुशलता का प्रदर्शन तो उसीमें होता है।

आज कई बड़े २ व्यापारी भाई हैं, वे ऐसी ही बुराई का सहारा लेकर चारों ओर बदनाम हो रहे हैं। भ्रष्टाचारी और मुनाफाखोरी इस कदर फैली हुई कही जाती है कि लगता है, नैतिकता का स्तर काफी हद तक नीचे गिर गया है, लेकिन वैसे व्यापारियों को यही कहा जा सकता है कि वे अपनी बुराइयों को छिपा कर चांदी के चन्द टुकड़े भले ही बटोर लें, परन्तु याद रखें कि बुराई ज्यों २ छिपा कर की जाती है, प्रकट होने पर उसका परिणाम भी उतना ही अधिक विषमतर होता हुआ पाया जाता है। व्यापार या अन्य प्रत्येक धंधे में—चाहे वह नौकरी ही क्यों न हो—नीति से गिर जाना अपने प्रति और धर्म व राष्ट्र के प्रति अत्यन्त लज्जाजनक विश्वासघात करना है। धर्म और राष्ट्र का तो विगड़ते २ विगड़ेगा लेकिन निज की आत्मा को तो सबसे पहले ही नीति की गिरावट कलुपित बना डालेगी।

अतः कैसा भी क्षेत्र हो, नीति पर बने रहने के लिये सबसे अधिक सरल उपाय यह है कि छिपाने की मनोवृत्ति ही न हो। कोई गलती भी हुई या एक वार लोभ वा लालसा के वशीभूत होकर बुराई हो भी गई हो तो उसे प्रकट कर दें और उसका यथोचित प्रायश्चित्त कर लें ताकि वहीं से बुराइयों की परम्परा

का खात्मा हो जाय और आगे के लिये किसी प्रकार के भय का वातावरण न रहे, क्योंकि सच्चाई यह है कि चोर को हमेशा डरते रहना पड़ता है। यह भी कोई जिन्दगी होगी कि हर समय केश से वंधी तलवार की तरह रहस्य खुल जाने का भय सताता ही रहे और एक क्षण भी निर्भयता की सांस न ली जा सके? कोई भी स्वयं बुरे परिणाम अपने लिये बुलाता है। कर्मवाद का सिद्धान्त साफ बताता है कि आत्मा स्वयं अपने भाग्य की विधायिका है, अतः उत्तम मार्ग यही है कि बुराइयां बरतते वक्त ही मनुष्य अपनी मनोवृत्तियों को नियंत्रित रखे और अपनी आत्मा को बुराइयों की कठिन दलदल में न फंसने दे।

और वह नियंत्रण है अपनी आत्मा का, परमात्मा का। चाहे कोई विकास के कैसे भी दर्जे पर हो, कैसा भी बुरा कार्य करते हुए उसके अन्दर से एक विरोध की आवाज उठती है यह दूसरी बात है कि वह उसे दवा दे, न सुने। अतः उस आवाज का अनुसरण करके और हृदय में 'प्रभु सब देख रहे हैं'—ऐसी भावना रखके वह चले तो फिर उसकी अन्तर्वृत्तियाँ हर समय सचेत रहेगी और वैसी अवस्था में फिर किसी बुराई को छिपा देने का साहस नहीं हो सकेगा। प्रभु से ऐसी सरलताभरी प्रार्थना मनुष्य को पाप कार्यों से रोके रहेगी। गोपनीयता की कुटिल भावना को नष्ट करने पर सत्य और अहिंसा की रक्षा होगी और सत्य व अहिंसा का सम्यक् पालन ही आत्मोद्धार का मूलभूत आधार है। अतः यकायक गोपनीयता की वृत्ति का

घातक कुप्रभाव प्रकट न हो सके, किन्तु इतना स्पष्ट समझ लिया जा सकता है कि यह वृत्ति समस्त बुराइयों की वह जड़ है जिससे बुराइयों का विष वृक्ष आत्मा के अन्दर घटाटोप होकर फैल जाता है और उसके शुद्ध स्वरूप को विकृत व विषैला बना कर पतन के तनों के नीचे दबोचे रहता है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात् भी कोई यह शंका व्यक्त कर सकता है कि माना बुराई छिपती नहीं और आखिरकार प्रकट होकर ही रहती है किन्तु प्रत्यक्ष तो इस दुनिया में सच्चे आदमी को हर जगह निराश होकर ठोकरें खानी पड़ती है—उल्टे सच बोलने वाले फंस जाते हैं एवं कुटिल व्यक्ति दोषी होते हुए भी बच कर भाग निकलते हैं। ऐसी हालत में शंका करने वालों का कहना होता है कि कुटिलता से काम न लें तो और करेंही क्या?

ऐसी शंका करने वालों की कठिनाई को समझा जा सकता है क्योंकि आज निज के विकास तत्त्वों से दूर हटाने वाली विपरीत वृत्तियों की बाढ़ वर्तमान जागतिक वातावरण में कुछ ऐसी आई है कि झूठे और अवसरवादी बिना कुछ किए अच्छे लाभ (भौतिक) उठा लेते हैं और सच्चे एवं सेवाभावी व्यक्ति कुटिल प्रपंचों में फंसा दिये जाकर दुःखी बना दिये जाते हैं। परन्तु इस स्थिति के होते हुए भी यह तथ्य हृदय में दृढ़तापूर्वक बिठा दिया जाना चाहिये कि सत्य वह ज्योति है, जो कभी भी किसी के द्वारा किसी भी दशा में किन्हीं भी उपायों से बुझाई नहीं जा सकती। कुटिलता का कठिन आवरण उसे समय मात्र

के लिये भले ही आच्छादित कर दे किन्तु वह दिव्य ज्योति तो प्रकाशित होकर ही रहती है और तब संसार उस प्रकाश के समक्ष नतमस्तक होता हुआ हर युग में देखा गया है।

सत्य का मार्ग शूरों का मार्ग होता है। इस मार्ग में आत्मा को भयभीत वा प्रलोभित करने वाली कुटिल वृत्तियों के कांटे मिलते हैं, खाइयाँ मिलती है और मिलते हैं बीहड़ वन—और इन सबको साहसपूर्वक लांघ जाने पर उसका अन्त उस परम ज्योति के समीप होता है जो ही जीवन का चरम साध्य है। आग ही सुवर्ण को तपा कर उसकी शुद्धता व कान्ति को सत्य सिद्ध करती है, उसी प्रकार इस दुनिया की क्रूर कठिनाइयों के बीच भी आत्मा अविचलित रह कर विकास का प्रकाशमय निखार पा जाती है।

भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जहां महान् आत्माओं ने भीषण कठिनाइयों का कठोर मुकाबिला करके सत्य की ही राह अपनाई। किन्तु अन्तमें उन्होंने जिस भव्य ज्योति के दर्शन किये और उसकी झलक संसार को भी दिखाई, उससे समूचा वातावरण सदियों के लिये जगमगा उठा।

सत्य की कसौटी पर चढ़ कर खरे उतरने वाले ऐसे ही एक उदाहरण का जिक्र यहाँ किया जा रहा है जो बहुत ज्यादा प्राचीन काल का भी नहीं है। यह घटना है राजस्थान के बूंदी नगर की, जहाँ पहले चांप राजा राज्य करते थे। उनकी रानी

का नाम सोना देवी था, जिसे उसके वंश के नामसे हाड़ी रानी ही अधिकतर कहा जाता था।

एक वार चांप राजा को बादशाह अकवर के दरवार में जाने का अवसर आया। वे हाड़ी रानी से अत्यधिक प्रेम करते थे और रानी भी पूरी पतिपरायणा थी। विलग होने की इच्छा न होते हुए भी चांप राजा किसी तरह शीघ्र लौट आने का रानी को आश्वासन देकर और अपनी स्मृति की निशानी रूप एक रुमाल व कटार सम्हला कर वहांसे विदा हुए।

अकवर वादशाह का दरवार लगा हुआ था, कई स्थानों के नवाव, सामन्त व राजा वहां उपस्थित थे। चाँप राजा भी यथास्थान बैठे हुए थे। दरवार में कई वातों की चर्चा चलाते हुए वादशाह ने कहा कि हम तो हज (तीर्थयात्रा) करने की बजाय किसी सती साध्वी का दर्शन करना चाहते हैं, सो है किसी की घर वाली कोई ऐसी साध्वी, जिसकी पतिपरायणता व साधुता पर उसकी आत्मा पूर्ण रूप से विश्वास करती हो? सारे दरवार में सन्नाटा छा गया। इस शर्मनाक चुप्पी को देख कर चांप राजा से न रहा गया, वे छाती ठोंक कर बोले कि वादशाह किसी सती साध्वी के पुण्य दर्शन की अपनी इच्छा उसके घर पर पूरी कर सकते हैं, उन्हें अपनी हाड़ी रानी पर ऐसा ही अमिट विश्वास है। वादशाह ने पहले परीक्षा की शर्त रखी और राजा ने उसे गंभीरता से स्वीकार करते हुए कहा कि अगर मेरे कथन के विरुद्ध कुछ भी अन्यथा सावित हो जाय तो

मैं वीर राजपूत के नाते अपना सिर दे डालने का इस दरबार के सामने का वादा करता हूँ।

इस तरह हाड़ी रानी की कठोर कसौटी वेला उपस्थित हो गई। राजा को वहीं ठहरे रहने के लिये कहा गया और एक कुटिल सामन्त मियां शेरबेग उस कसौटी के लिये वहां से बूंदी भेजा गया। बूंदी पहुंच कर मियां में अपने डेरे शहर से कुछ दूर ही लगवा दिये। फिर उसने एक मालिन को कुटिलाई के पाठ पढ़ा कर इस तरह तैयार किया कि वह राजमहलों में चांप राजा की बुआ बन कर पहुंची। उसने रानी को अपने साथ नहाने के लिये तैयार किया। हौज में कुटिलतापूर्वक क्रीड़ा करते हुए उसने यह जानकारी प्राप्त कर ली कि हाड़ी रानी की जंघा के ऊपरी भाग में एक बड़ा सा काला दाग है। अब बुआजी जब रवाना होने लगी तो अपने छोटे बेटे के लिये उसने चांप राजा की रानी को दी हुई निशानी रूप दोनों चीजों—रूमाल और कटार को ही मांग लिया। रानी ने हिचकिचाहट बताई और दूसरी सुन्दर वस्तुएँ देने को कहा तो बुआजी ने रूठने का स्वांग रचा। इस पर सरल हृदया हाड़ी रानी नें वे दोनों चीजें दे दी और बुआजी लौट गई।

अब तो मियां शेरबेग चांप राजा को नीचा दिखाने का हौंसला लेकर दिल्ली पहुंच ही गये। दरबार में उसी रूमाल और कटार के पेश होते ही चांप राजा चौंके, फिर भी उन्होंने अनुमान लगाया कि ये चीजें तो चोरी या धोखेबाजी से भी लाई

सकती हैं। उन्होंने इस हरकत का विरोध किया, किन्तु जब कुटिल शेरबेग ने हाड़ी रानी के सतीत्व हरण के प्रमाण में जंघा के काले दाग का जिक्र किया और कहा कि इन चीजों—रूमाल व कटार को विदाई के उपहार के रूप में बताया तो चांप राजा कुछ बोल न सके। यकायक उनका सिर शर्म व रोष से नीचे झुक गया। उनके हृदय में हाड़ी रानी के प्रति अविश्वास के बादल मंडरा गये। उन्होंने अपनी मृत्यु स्वीकार कर ली और उससे पहले एक बार बूंदी जाने की इजाजत मांगी।

बादशाह ने शंका प्रकट की कि वापिस न आओ तो—इस पर एक अन्य सामन्त पहाड़ सिंह ने बूंदी राजा की जमानत दी कि वे न आये तो समय पर मृत्युके लिये वह स्वयं उपस्थित होगा। तब चांप राजा को बूंदी जाने की आज्ञा दे दी गई। बूंदी पहुंच कर ज्योंही चांप राजा अपने महलों में पहुंचे, हाड़ी रानी ने उसी सरल प्रेम व पतिपरायणता से उनका स्वागत किया, किन्तु राजा तो घृणा व रोष की आग में जले जा रहे थे। उनके मस्तिष्क को उससे अवकाश ही कहाँ था कि रानी के हृदय को समझ सके? उन्होंने अपनी निशानी रूप दोनों चीजें मांगी और जब रानी ने उनके दे डालने का स्पष्टीकरण किया तो राजा क्रोधित हो उठे और उसे कलंकिनी का तिरस्कार एवं अपनी मृत्यु का समाचार देकर उसी क्रोधावस्था में वापिस दिल्लीके लिये प्रस्थान कर गये।

इस घटना ने हाड़ी रानी की आंखें खोली कि किस तरह उसे कुटिलता के जाल में फंसाया गया था। किन्तु वह उस जाल से डरने वाली नारी नहीं थी। सरलता में जो साहस और निर्भयता होती है, वह कुटिलता में कहाँ ? रानी ने निश्चय किया कि वह कुटिलता के विरुद्ध डट कर लड़ेगी और सही सत्य को प्रकट कराके ही रहेगी। कुटिलता की जीत से उसने यह नहीं सोचा कि वह सत्य से पतित होकर कुटिलता में रम जावे, बल्कि उसने सत्य के बल पर ही कुटिलता को परास्त करने का निश्चय किया और कुछ सरदारों को साथ लेकर चुपचाप दिल्ली पहुंच गई।

हाड़ी रानी ने वहाँ जाकर जानकारी प्राप्त की। इधर क्या घटना हुई कि चांप राजा को दिल्ली पहुंचने में कुछ विलम्ब हो गया और फांसी का निश्चित समय हो गया, इसलिये पहाड़ सिंह उपस्थित हुआ। ज्योंही फांसी के तख्ते पर पहाड़ सिंह प्रसन्नता-पूर्वक अपने मित्र के लिये कुर्बान होना चाहता था कि चांप राजा भी उसी वक्त आ पहुंचे। अब दोनों मित्रों में वादविवाद होने लगा कि फांसी उसी को दी जाय। पहाड़ सिंह की हठ थी चूंकि उसे तख्ते पर ले आया गया है, अब राजा को फांसी पर नहीं चढ़ाया जा सकता और राजा भला अपने लिये अपने मित्र को कैसे मरने दे सकते थे ? इस विवाद की बातसे बादशाह खुश हुआ—उसने फांसी को ही स्थगित कर देने का आदेश दे दिया।

यह समाचार सारे शहर में फैल गया और हाड़ी रानी को भी यह बात मालूम हुई। उसने बादशाह को ऐसी खुशी के अवसर पर अपना गायन सुनाने का सन्देश भेजा। बादशाह ने स्वीकृति दे दी। दरबार के बीच गायन हुआ जिसे सभी ने सुन कर उस मधुर कंठ की खूब प्रशंसा की। बादशाह ने उसके पुरस्कार देने की बात कही तो हाड़ी रानी ने मांग की कि दरबार में बैठे हुए मियां शेरबेग बूंदी में मेरे पास आये थे और रहे थे। उस समय का इन्होंने आधा कर्जा तो चुकाया लेकिन आधा बाकी रह गया है उसे ही मुझे अब दिलवा दीजिये।

ऐसा सुनते ही मियां शेरबेग चौंक पड़ा कि यह बला कहाँ से चली आई और आधा कर्जा कैसा ? वह बोल उठा—जहाँपनाह, यह बिलकुल झूठ बोलती है। मैं इसको जानता नहीं, मैंने इसको कभी देखा नहीं और कुरान हाथ में लेकर कहता हूं कि मैंने इसकी आवाज तक नहीं सुनी। मियां शेरबेग की बात पूरी होते ही वेश्या रूपधारी हाड़ी रानी ने पर्दे के आवरण से अपने आपको ढक लिया। यह दृश्य देख कर सिवा चांप राजा के सभी दरबारी व बादशाह आश्चर्य करने लगे कि यह क्या रहस्य है ? बादशाह ने इसका कारण पूछा तो रानी ने अपना असली परिचय देते हुए कहा कि मियां शेरबेग ठीक कहता है कि उसने मेरा मुंह तक नहीं देखा, आवाज तक नहीं सुनी, किन्तु जिस कुटिल व मायाभरे षड्यंत्र से उसने मुझे बदनाम करने व मेरे पतिदेव चांपराय को लज्जित करने की जो गुस्ताखी

की है, उसे स्पष्ट करने ही मुझे वेश्या बन कर भी यहां आना पड़ा है। जबसे चांपराय यहां आये हैं, तब से उनकी याद को लिये जप तप करती हुई मैं बूंदी रही हूं। रानी ने मियां शेरबेग की कुटिलाई की सारी कहानी भी कह सुनाई। अब बेग कुछ भी छिपा न सका और बादशाह से माफी की भीख मांगने लगा। इस तरह हाड़ी रानी ने सत्य की विजय करके दिखलाई। दरबार में हर्षनाद छा गया और चांप राजा का मस्तक गौरवान्वित हो उठा।

तो निष्कर्ष यह है कि सत्य के बीच कठिनाइयाँ आती हैं, कुटिलाइयाँ आती हैं किन्तु अगर आप उनसे घबरावें नहीं, और उन्हें कुचलते हुए आगे बढ़ जावें तो दुनिया की कोई ताकत सत्य की ज्योति के पास पहुंचने से आपको रोक नहीं सकती।

हमें सच्चे हृदय से भगवान् अरहनाथ को भजना चाहिये। उनसे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता। प्रभु सर्वज्ञ हैं—सब कुछ जानते हैं अतः उनके सामने अपना हृदय खोल कर ही रख देना ही प्राणी के लिये हितकर है। भगवान् अरहनाथ की उपासना सगुण और निर्गुण रूप दोनों प्रकार से की जा सकती है। वाणी और मानवीय चरित्र द्वारा वर्णनीय वे सुदर्शन महाराज और देवी महारानी के सुपुत्र हैं अतः सगुण है किन्तु इन्द्रियातीत विवेचन के अनुसार "अलख, अरूप, अखंडित, अविचल, अगम, अगोचर" हैं अतः निर्गण रूप हैं।

अतः जब ऐसे प्रभुकी उपासना की जाय, हृदय में परम शुद्धता व सरलता का मनोभाव हो और किसी भी बुराई को छिपा कर उसे बोझिली बनाने की कैसी भी कुटिल वृत्ति उसमें न हो। तभी सत्य पथ पर आत्म-कल्याण साधा जा सकेगा।

हमारी बाँह दृढ़ गहिये !!

कुन्थू जिनराज तू ऐसो,
नहीं कोई देवतो जैसो।
त्रिलोकीनाथ, तू कहिये,
हमारी बांह दृढ़ गहिये॥

भारत की यह सांस्कृतिक परम्परा रही है कि यहांके लोक-जीवन व उससे सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न धार्मिक पद्धतियों में भी भक्तिमार्ग को उनसे अधिक महत्त्व दिया गया है, और इस मार्ग के अनुपालन का कुछ विशेष रहस्य भी है। ईश्वर की भक्ति का यह प्रयोजन नहीं कि वह उससे हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर दे या अन्य प्रकार का कोई प्रत्यक्ष सहयोग दे। मनुष्य के हृदय में जब तरलता का प्रवाह हिलोरे लेने लगता है कि अपने जीवन को उबार ले, तो उसी तरलता का नाम भक्ति है। भक्ति में मन की सारी आस्था, श्रद्धा और निष्ठा केन्द्रित हो जाती है। उस केन्द्रीकरण के वातावरण में जब ईश्वर के रूप का स्मरण किया जाता है कि किस प्रकार एक साधारण आत्मा ने विकास सोपान पर निरन्तर गति करते हुए चरम विकासावस्था—ईश्वरत्व को प्राप्त किया

है तो भक्त के चित्त में भी उस महान् पथ पर चलने की प्रेरणा पैदा होती है।

यही प्रेरणा कवि विनयचन्द जी के हृदय में एकनिष्ठा बन कर उनके उद्‌गारों में फूट पड़ी है कि—हे कुन्थू जिनराज, तेरे जैसा और कोई देव नहीं है, तू तो तीनों लोकों का स्वामी है, इसलिये अन्य किसी से क्या कहूं—तेरे से ही निवेदन है, इस संसार सागर में डूबते हुए हमारी बांह इतनी मजबूती से पकड़ो कि हम पार उतर जायें !!

ईश्वर की इस भावुक भक्ति में दुहरा लाभ प्राप्त होता है। एक ओर तो उन महापुरुष के विशाल एवं भव्य आदर्शों पर विचार करते हुए उनसे मनुष्य का हृदय अनुप्राणित होता है, उन्हीं के पद चिह्नों पर चलने की दृढ़ धारणा बनाता है तो दूसरी ओर उनके दिव्य जीवन के समक्ष वह अपने जीवन की लाघवता अनुभव करता है, अपने अहं को नम्रता व शिष्टता में बदल देता है। इस प्रकार भक्ति प्रेरणा और सरलता दोनों की जननि है। भक्ति की भावना से आन्दोलित हृदय सांसारिक विकारों के कीचड़ से निकलने के लिये छटपटाता है और भावना के मुक्त वातावरण में अपना स्थान बनाने लगता है।

कवि विनयचंद जी भी तो अपने आपको उबारने के लिये मजबूती से बांह पकड़ने की प्रार्थना करते हैं, किन्तु उनके इस कथन में यह तर्क पैदा हो सकता है कि क्या परमात्मा बांह पकड़ कर उबारेगा ? इसके लिये "बांह पकड़ने" के अन्तर्भाव

को समझा जाना चाहिये। जो अन्ध भक्ति में विश्वास रखते हैं तथा ईश्वरत्व के स्वरूप को यथार्थ अर्थ में नहीं समझते, वे कह सकते हैं कि दरअसल ईश्वर कोई भी रूप धारण करके हमारी वांह खींच कर हमें उबारेगा। जब २ भक्तों में 'भीर' पड़ी, भगवान् कोई न कोई रूप धारण करके दौड़े आये और भक्तों को संकट के जाल से मुक्त किया—इस मान्यता के पीछे यह भाव है कि ईश्वर एक विशिष्ट शक्ति का धारक होता हुआ अन्य पूर्ण आत्माओं से पृथक् स्वरूप वाला होता है और मनुष्य की उत्कृष्ट भक्ति किसी भी समय ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करा सकती है, वह जैनधर्म को मान्य नहीं है। जैनधर्म तो आत्मा की पूर्णता में ही ईश्वरत्व का प्रतिरूप मानता है। इसी के साथ उसकी यह भी मान्यता है कि पूर्णता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् कोई आत्मा पुनः संसार में आगमन नहीं करती। अतः कवि का यह कथन कि भगवान् उनकी वांह पकड़ कर उबारे—कुछ और ही तात्पर्य्य रखता है।

इस 'वांह पकड़ने' से स्थूल वांह को पकड़ने का अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये, वल्कि इसका अर्थ है—अन्तर्मन की गति-आत्मा के विकासरूपी वांह को पकड़ने से। क्योंकि ईश्वर का शुद्ध स्वरूप निजत्व में रमण करना, अरूपी, अशरीरी आदि है अतः वह रूप वाले स्थूल पदार्थों को ग्रहण नहीं करता। स्थूल पदार्थों को स्थूल शरीर ही ग्रहण कर सकता है। अतः ईश्वर से यह चमड़े की वांह पकड़ने की प्रार्थना नहीं की गई है। और

आत्मा के विकास रूपी बांह पकड़ने का भी अर्थ है कि उनके विकास पथ से हमको भी उस पर गतिशील होने की बलवती प्रेरणा मिले। उनका जीवन हमारे समक्ष लक्ष्य का रूप धारण करके जैसे चित्रित सा रहे। इस दृष्टि से अपनी समस्त शक्तियों को ईश्वर के चरणों में अर्थात् उनके विकास पथ पर आगे बढ़ने के लिये समर्पित कर देना ही उनको अपनी बांह मजबूती से पकड़ाना है।

किन्तु इस प्रकार परमात्मा से बांह पकड़वाने के लिये हृदय में तत्परता और आतुरता होनी चाहिये जो जीवन के क्रम को विमलता से ओतप्रोत कर देने पर ही एकत्रित की जा सकती है। इसके लिये उस उग्र भावना की आवश्यकता है जो संसार के निम्न वातावरण से ऊपर उठा कर भावना जगत् में निष्काम होकर विचरण करने का साहस पैदा करे। आत्मोत्थान के लिये इतनी बेचैनी पैदा हो जाय कि निजी स्वार्थ का अन्य विकार-पूर्ण प्रपंच मनुष्य के ध्यान में ही न रहें। वह तो जैसे अपने आपको त्याग मार्ग पर विसर्जित कर चुका हो। भक्तिमार्ग की उत्कृष्ट श्रेणी ऐसी ही होती है कि वह निजत्व को समस्त जगत् में प्रसारित कर देता है—जगत् से ऊपर उठ कर भी जगत् का कल्याण कर देता है।

कहते हैं एक बार ईशु के पास एक धनवान मोक्ष की राह पूछने के लिये आया। उसके प्रश्न को सुन कर ईशु उसे एक नदी के किनारे ले गये और उन्होंने उसे पानी में उतारा। गले

से भी ऊपर पानी में ले जाकर वे उसे और गहरे पानी में ढकेलते ही रहे। तब वह बुरी तरह घबड़ाने लगा। किन्तु जब वह पानी से ऊपर उठने की कोशिश करता, ईशु उसे फिरसे दबा देते। इस तरह दस पन्द्रह मिनिट बाद उसे वे बाहर ले आये तो वह चिढ़ने लगा कि बजाय मेरे प्रश्न का उत्तर देने के आपने मेरे साथ साधुस्वभावी होकर भी यह कैसा अजीब बर्ताव किया ? ईशु ने बड़ी नम्रता से जवाब दिया कि जो तुम पूछना चाहते थे, उसी का तो मैंने उत्तर दिया है और तब उसे उन्होंने समझाया कि जब तुम पानी में थे और मैं दबा रहा था, तब तुम क्या चाहते थे ? उसने तपाक से उत्तर दिया कि पानी से बाहर निकलने के लिये ही मैं बुरी तरह छटपटा रहा था। ईशु ने फिर प्रश्न किया कि उस समय तुम्हें कोई करोड़ों की सम्पत्ति, नाना भोग-विलास व सुन्दर पदार्थ प्रदान करता कि तुम पानी से बाहर न निकलो, तो तुम क्या सोचते ? उस धनवान ने कहा कि लेने के लिये तो दूर रहा किन्तु किसी को यदि मेरी सारी सम्पत्ति भी मुझे देनी पड़ती कि कोई मुझे बाहर निकालने से न रोके तो उस समय मैं दे देता। तब ईशु ने उसे इस सारी घटना का रहस्य बताना शुरू किया कि जिस प्रकार पानी में डूबने पर तुम्हारा चित्त एकदम व्याकुल हो उठा था और तुम बाहर निकल आने के लिये छटपटा रहे थे, उसी प्रकार संसार की वासनाओं के खारे समुद्र से बाहर निकल आने के लिये जब तक तुम्हारी आत्मा में तीक्ष्ण छटपटाहट

पैदा नहीं होगी, मुक्ति की राह तुम्हें नहीं मिल सकती। संसार के भौतिक पदार्थों की नश्वरता व अनित्यता का भाव जब तुम्हारे हृदय में उत्पन्न होगा और तुम उन्हें दुःखमूल समझ कर उनसे विलग होना चाहोगे तब तुम्हारे सामने मुक्ति की राह स्पष्टतर से स्पष्टतम होती जायगी।

यह उदाहरण बताता है कि आत्मा परमात्मा के लिये अर्थात् वैसी बनने के लिये जब तक अपना सब कुछ उस पथ पर समर्पित नहीं कर देती, परमात्मा उसकी बांह नहीं पकड़ सकता। आज के लोक-व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि एक गरीब घर की कन्या जब करोड़पति वर को अपना हाथ दे देती है तो वह उस करोड़पति घर की स्वामिनी हो जाती है, फिर इससे कोई मतलब नहीं कि वह पैदा किस घर में हुई थी? कन्या मांगणी नहीं करती है, अपना हाथ देती है और जीवन समर्पण कर देती है तो वर के घर की स्वामिनी हो जाती है। उसी प्रकार हम परमात्मा से प्रार्थना करेंगे और अपनी सारी शक्तियों को उसी के आदर्श को प्राप्त करने में जुटा देंगे तथा अपनी बांह उसे पकड़वा देंगे तो फिर हमारा उद्धार होने में कोई विलम्ब नहीं हो सकता—फिर तो हम परमात्म तत्त्व के स्वयं स्वामी हो जायेंगे। जैसे कन्या और वर का जीवन एक दृष्टि से एकीभूत हो जाता है, उसी तरह हम भी परमात्म-स्वरूप बन जायेंगे। इसे ही परमात्मा का साक्षात्कार कहा जाना चाहिये।

श्रीकृष्ण ने भी परमात्मा के साक्षात्कार की विधि बताते हुए एक स्थान पर कहा है—

"मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति सः पश्यति ॥

अर्थात् जो व्यक्ति पर-स्त्री को माता, पर-द्रव्य को पत्थर और समस्त प्राणियों में आत्मीयता के भाव का दर्शन करता, वही 'उसका' साक्षात्कार करता है।

आज इस "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सिद्धान्त को जानते हुए भी समाज में भेदभाव की कलुषितता अत्यधिक भीषण रूप में बढ़ गई है। गरीब-अमीर का भेद, छूत-अछूत का भेद, जात-पांत का भेद और न जाने मानवता को गिराने वाले कितने ही भेद आज विद्यमान हैं। इस वातावरण में एक दूसरे को गिरा कर नीचा दिखाने और एक दूसरे से घृणा करके विष फैलाने की भावना प्रबलतर होती देखी जाती है। ऐसी विषम परिस्थिति में "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना एक नई जागरण फूंकना चाहती है कि तुम किसी दूसरे को गिरा कर किसको गिरा रहे हो? क्या निज की ही आत्मा को तो उससे नहीं गिरा रहे हो? फिर तुम्हारे में और दूसरों में भेद ही क्या है? भावना की यह गति है जो परमात्मा की भक्ति और उस पद की प्राप्ति के समीप मनुष्य को ले जाती है।

परमात्म भक्ति का मार्ग जीवन के विकास का मार्ग है, किन्तु मन्दिर में जाने वाले कई भाई मन्दिर में मूर्ति के दर्शन

करके यह समझ लेते हैं कि उन्होंने परमात्मा को पा लिया। लेकिन यह एक भ्रमणा मात्र है। परमात्मा का दर्शन इन चर्म चक्षुओं से नहीं होने वाला है। वह तो जब अन्तर के चक्षु अज्ञानान्धकार को चीर कर खुलेंगे, निज के हृदयासन पर विराजमान हो जायगा, तभी उसके वास्तविक दर्शन हो सकेंगे। परन्तु इन अन्तर् के चक्षुओं को खोलने के लिये हृदय को विशाल एवं उदार बनाना पड़ेगा तथा प्राणीमात्र से मैत्री करते हुए अपने आपको उनके सच्चे हितेच्छु के रूप में सिद्ध करना होगा। मन्दिर का मूर्ति दर्शन एक खिलवाड़सा ही रह जाता है, वहां जाकर तिलक लगाते हैं, लेकिन उस तिलक से ही सबक लें तो निराला ही ज्ञान मिलता है—

पाटीर ? तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरी कर्तुम्।
यत् पिंशतामपि नृणां, पृष्टोपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम्॥

कवि कहता है—हे चन्दन, तुम महान चतुर हो। ऐसा कौन व्यक्ति है जो तुम्हारी परम्परा को कायम रख सके? तुम्हारी वह परम्परा इतनी विशुद्ध है कि जो व्यक्ति तुम्हें काटता है, तुम्हारे खंड २ करता है और तुम्हें पीस डालता है, उस पर भी तुम उसे सुगन्ध, शीतलता, शक्ति और शान्ति प्रदान करते हो। इसीलिये संभवतः यह संसार तुम्हें अपने मस्तिष्क पर धारण करता है।

परमात्मा से भक्ति करने का मतलब है कि चन्दन की शिक्षा से अपने जीवन को सहनशील व सर्वजन हितकारी बनाया

जाय। एक अरब कहानी के अनुसार वह मनुष्य ही परमात्मा से सच्चा प्रेम कर सकता है, जो अपने साथियों से सच्चा प्रेम करता है।

अबू बेन आदम नामक एक धार्मिक वृत्ति वाला सच्चा पुरुष था। एक रातको जब वह सोया हुआ था, तो उसने एक दिव्य स्वप्न देखा। एक भव्य तेज से उसका शयन कक्ष धीरे २ दीप्तिमान हो रहा है और तब वह क्या देखता है कि एक देवदूत एक सुनहली पुस्तक लिये उसमें कुछ लिखे जा रहा है। उसने साहस करके पूछा कि वह क्या लिख रहा है? देवदूतने उत्तर दिया कि वह उन व्यक्तियों के नाम लिख रहा है जो परमात्मा से प्रेम करते हैं। इस पर अबू ने कहा कि यदि वह उन व्यक्तियों के नाम लिख रहा हो जो अपने साथियों से सच्चा प्रेम करते हैं तो उसका भी नाम लिख लिया जाय। तब तो देवदूत अन्तर्धान हो गया किन्तु दूसरी रात फिर वह उसी तरह से प्रकट हुआ और उसने अबू को वही सुनहली पुस्तक दिखलाई, जिसमें उन व्यक्तियों के नाम लिखे थे, जिन्हें परमात्मा का आशीर्वाद मिला था और उस सूची में अबू ने देखा कि उसका नाम सर्वप्रथम है। इस कहानी की सत्यता से विशेष प्रयोजन नहीं, जितना कि इसकी शिक्षा से। जनसाधारण व प्राणीमात्र की विवेकपूर्वक सेवा भी एक दृष्टि से परमात्मा की भक्ति का दूसरा नाम कह सकते हैं।

आज अधिकतर परमात्मा की भक्ति का ढोंग किया जाता

है। वास्तविक रूप से देखा जाय तो परमात्मा के सच्चे भक्त विरले ही मिलेंगे। वर्तमान जन-जीवन में जो विषमता व्याप्त हो रही है, उसका मूल कारण ही परमात्मा को भूल जाना है। जब एक वर्ग अपने सामान्य कर्त्तव्यों तक को भूल कर शोषण और अपने ही भोग-विलास में लिप्त होने लगता है, तब दर-असल धर्म भावना का भी ह्रास होने लगता है क्योंकि विषमता की स्थिति में सम्पन्न वर्ग अर्थमद में झूलता हुआ नैतिकता को तिलांजलि दे देता है तो अभावग्रस्त वर्ग विवशता से टकराता हुआ नैतिकता को भूलता है। शोषण की बुनियाद पर टिका हुआ इस तरह का भोग-विलास एक प्रकार से रक्त स्नान के समान है और यह रक्त भी उन गरीब किसान व मजदूरों का, जिनके अन्तर में आज भी सूक्ष्मता से देखा जाय तो सत्ता रूप से परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी गीतांजली में एक स्थान पर लिखा है कि—"यदि तुम्हें ईश्वर के दर्शन करने हैं तो जेठ की कड़कड़ाती हुई धूप में जाओ और खेत में काम करते हुए किसान के पसीने की बूंदों में गहराई से देखो—उसमें तुम्हें ईश्वर के सहस्र रूपों का साक्षात्कार होगा।"

किन्तु देखा जाता है कि वे ही किसान और मजदूर पूंजी-वादी व्यवस्था में चूसे जाते हैं। अर्थयुग की विपाक्तता ने भ्रातृ-भाव और सहानुभूति का तो विनाश किया ही, लेकिन उससे भी ऊपर आज का मानव अपने मूल स्वभाव मानवता से गिर कर अपने ही भाई के खून का ग्राहक बनता हुआ पाया जाता

है। चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, नैतिक पतन और न जाने क्या २ आत्म-विकास के घातक तथा समाज-विरोधी दुर्गुण इस धनदेव की उपासना में पनपाये जाते हैं। एक स्वस्थ समाज व सरल नागरिकता के दृष्टिकोण से देखा जाय तो लगेगा कि जैसे न्याय तो नाममात्र से रह गया है, दरअसल साम्राज्य तो चारों ओर अन्याय का छाया हुआ है।

ऐसी विषम परिस्थिति में परमात्मा के भक्त कहलाने वालों के कन्धों पर कितनी भारी जिम्मेदारी आ जाती है कि वे अपनी भक्ति को किस दृढ़ता, ईमानदारी व नेकनीयती से एक-निष्ठ बनाते हैं ? सम्यक् शिक्षा एवं संस्कारों से समग्र मानवता का अपना एक उद्देश्य हो जाना चाहिये। आज आप लोग देखते हैं कि कई व्यर्थ के लोक-व्यवहारों एवं रीति-रस्मों में लाखों रुपयों का पानी कर दिया जाता है किन्तु सत्साहित्य-प्रसार व धर्म-प्रचार के नाम पर खर्च करने से नाकभौं सिकोड़ा जाता है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य के जीवन-निर्माण में सत्साहित्य का अध्ययन एवं मनन कितना अमूल्य योग देता है। साहित्य मस्तिष्क का विकास करता है और मस्तिष्क उस आधार पर विचार श्रेणी को उच्च बना कर सत्कार्यों में प्रवृत्ति का मार्ग खोलता है। अहमदनगर के एक ईसाई को मैंने देखा है जिसने पादरी के सुझाव पर अपने विवाह के लिये निश्चित दस हजार की धनराशि धर्म-प्रचार के हेतु दान में दे दी। आज आप लोगों को भी कोई सुझाव दे

कि विवाह-शादी के लेन-देन में जो लाखों रुपयों का व्यय किया जाता है—उसे सत्साहित्य के निर्माण व प्रसार में दे दो, तो क्या आप लोगों का भी कर्त्तव्य नहीं है कि धन का सन्मार्ग को प्रकाशमान बनाने के शुभ कार्य में सदुपयोग करने की प्रवृत्ति डालो ?

विश्व के इस बदलते हुए नक्शे में नवयुवकों को अपना यह विशेष कर्त्तव्य मानना चाहिये कि वे शान्ति एवं सत्य पर आधारित क्रान्ति का बिगुल बजा कर समाज में फैली हर तरह की विकृति का मुकाबिला करें और उसके स्थान पर विशुद्ध एवं तरल मानवीय भावनाओं को जागृत करें। अपनी सेवामय शक्ति का विकास करके सब प्राणियों में साम्य दृष्टि के अनुसार सुख, शान्ति और सौहार्द्र की स्थापना करे ताकि संसार का यह बढ़ता हुआ हाहाकार सन्तोष की लहर के रूप में परिवर्तित हो जावे। समाजमें आत्मोत्थानकारी नव व्यवस्था की बुनियाद पड़ने के साथ २ साम्य भाव की वृद्धि, सम संविभाग की मनोवृत्ति और प्राणीमात्र के साथ हार्दिक मैत्री भावना से मनुष्य की परमात्मा के प्रति की जानेवाली भक्ति सफलीभूत हो सकती है और इसी अवस्था में उसकी बांह दृढ़तापूर्वक परमात्मा के हाथ में होगी।

मानव जीवन विशिष्ट क्यों ?

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणिय जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजममिय वीरीय॥

विश्व के समस्त प्राणियों में मानव जीवन का स्थान सर्वोच्च है, इसीलिये शास्त्रकारों ने भी उसे दुर्लभ कह कर पुकारा है। परन्तु यह गंभीर विचार का प्रश्न है कि मानव जीवन की यह सारी विशिष्टता किस भूमिका पर टिकी हुई है, क्योंकि उसका स्पष्टतः ज्ञान होने पर ही किसी वस्तुस्थिति के मूल से लेकर उसके पूर्ण विकास-क्रम को पहिचाना जा सकता है। जब भूमिका के विषय में ही अस्पष्ट धारणा हो तो तत्सम्बन्धी विकास और उपयोगिता की पूरी जानकारी नहीं होगी और जिसका परिणाम हो सकता है—पूर्ण स्वरूप से अनभिज्ञता। मानव जीवन के सम्बन्ध में भी आज कई गलत धारणाएँ प्रचलित हैं, जिससे इस जीवन के अमूल्य होने का भान नहीं होता एवं उसे उस दृष्टि से सार्थक बनाने के प्रयास नहीं हो सकते।

यहां मानव जीवन के सम्बन्ध में उन धारणाओं की मीमांसा की जा रही है, जिनके कारण मानव जन्म पा लेने पर भी मानवता की प्राप्ति नहीं होती। मानव का रूप मिल जाना

वार सुखी होने चाहिये, उनका अन्तक्लेश मिटना चाहिये, किन्तु परिवार ही में सुख है और उसी में मानव जीवन की विशेषता है—ऐसी वात नहीं है।

दूसरी ओर आज के अमर्यादित जीवन और बढ़ती हुई सन्तति से राष्ट्र का जीवन संकटमय बन रहा कहा जाता है। जब खाद्य समस्या ही उससे विकट बन जाय तो जीवन स्तर के ऊपर उठने का प्रश्न तो बड़ा दूर रहता है। भरतपुर से अलवर विहार करते हुए मुझसे एक अध्यापक मिले जिन्होंने बताया कि उन्हें कुल ६०) रु० वेतन मिलता है, किन्तु इस आय में विस्तृत परिवार का साधारण खर्च चलाना भी कठिन हो रहा है। फिर बच्चों का सुव्यवस्थित लालन-पालन और सुशिक्षा तो आगे की चीजें हैं। यह सब मुझे बताने में उनका शायद यह इरादा लग रहा था कि महाराज कुछ ऐसा मंत्र बता देंगे, जिससे अध्यापक जी का जीवन सुखमय हो जाय। हमारे पास क्या है—त्याग का मंत्र, जो हमने उन्हें बता दिया कि यदि सुख चाहते हो तो जीवन को संयमित और सत्पुरुषार्थी बनाओ ताकि सुगमता पूर्वक जीवन-यापन हो सके।

आज की विलासिता और काम-लिप्सा ने परिवारों की संख्या तो बढ़ा दी किन्तु जीवन को निष्क्रिय एवं खोखला भी बना डाला है। अतः वर्तमान युग की भयानक स्थिति को देखते हुए सन्तति निरोध आवश्यक हो सकता है। इसके लिये दो उपाय बताये जाते हैं—एक तो कृत्रिम, औषधि वा ऑपरेशन

द्वारा तथा दूसरा संयमित जीवन-यापन द्वारा। इसके विषय में मैं दूसरे उपाय का पक्षपाती हूं। अधिकतर पाश्चात्य देशों द्वारा अपनाए कृत्रिम उपायों से महान् चारित्र्य-हानि ही हुई है। जीवन को संयमित वना कर सन्तति निरोध करने से न सिर्फ विश्व का वर्तमान संकट ही टलेगा, अपितु जीवन-क्रम में भी एक नैतिक विकास होगा। यह प्रत्येक गृहस्थी प्रतिज्ञा कर ले कि लड़के का विवाह २३-३४ वर्ष व लड़की का विवाह १८-१६ वर्ष से पहले नहीं करेगा, तो परिपक्व अवस्था में जो सन्तति होगी, उसके अधिक स्वस्थ, निर्भीक व शक्तिशाली होने की संभावना रहती है।

मैं तो यहां तक कहना चाहता हूँ कि ऐसे सामाजिक नियम वनें जिनके अनुसार लड़का और लड़की दोनों जब तक आत्म-निर्भर न वन जाय उनका विवाह न हो सके और विवाह के पश्चात् भी मर्यादित जीवन और कुछ समय के लिये दम्पत्ति को अनिवार्य रूप से धर्म व जनकल्याण कार्यों में सक्रिय भाग लेना जरूरी हो। आर्थिक दृष्टि से भी दोनों की अपनी २ स्वतंत्रता दोनों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में सहयोगी वन सकती है। जैसे मजदूर भाइयों को ही देखिये—घर का प्रत्येक सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार अर्जन करता है और गृहस्थी को सुखी बनाने का प्रयास करता है वहां ऊँचे कहलाने वाले घरों में पूरे परिवार का भार एक व्यक्ति पर आ पड़ता है,

जिसके नीचे दब कर आज मध्यमवर्गियों का जीवन कष्टपूर्ण होता देखा जाता है।

यह सारी स्थिति स्पष्ट चेतावनी देती है कि पारिवारिक संख्या और वैभव बढ़ने से भी मानव जीवन में कुछ नहीं बढ़ता। एक विचारशील कवि ने इस विषय में कहा है—

लक्ष्मी अने अधिकार बधतां, शुं वध्यो ते तो कहो।
शुं कुटुम्ब परिवार थी वधत्ता पणु नव ग्रहो॥
वधतापणो संसार नो, नर देह ने हारि जहो।
एनो विचार अहो हो, एक पल तमने ना थयो॥

हकीकत में वैभव और धन-वृत्ति ने भी मानव जीवन में कभी तरक्की का रास्ता नहीं सुझाया है। रावण के पास सोने की लंका थी और यादवों की द्वारिका रत्नजटित थी—किन्तु इस विपुल धनराशि से उन्हें क्या मिला? यही कि ऐश्वर्य ने रावण को राक्षस बनाया तथा यादवों को विलासी एवं मदान्ध।

यह निर्विवाद सत्य है कि धन-मद मानव को अन्यायी दानव के रूप में बदल देता है, जिससे आत्मा में शान्ति की उद्भावना नहीं होती। लेकिन आज यह देखा जाता है कि चारों ओर धन के लिये छटपटाहट और छीनाझपटी हो रही है। अर्थ को ही जैसे मनुष्य ने अपना अन्तिम साध्य समझ रखा है। इसी अर्थलिप्सा ने मनुष्य के मस्तिष्क को इतना विकृत बना दिया है कि उपयोगी पदार्थ का भी वह अपनी कुत्सित मनोवृत्तियों की पूर्ति हेतु दुरुपयोग करता है।

विज्ञान की शक्ति को ही लीजिये—उससे जहां व्यापक लोकहित का सम्पादन किया जा सकता है, वहां आजके मनुष्य ने वैभव प्राप्ति को ही मानव जीवन का पुष्ट धरातल मान कर उसके विनाशात्मक पहलू को ही अधिक देखा है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने के लिये विशाल युद्धास्त्रों की तैयारी करता है, वड़े पैमाने पर महाविनाश की भयंकरता को उत्पन्न करने के लिये अणु व उद्द्रजन बमों का आविष्कार करता है, परन्तु हड्डी के टुकड़े को छीन कर भागने वाले कुत्ते की तरह वैभव का अविवेक पूर्वक एकत्रीकरण महाविनाश व दुःख का ही कारण हो सकता है। एक कुत्ता हड्डी का टुकड़ा लेकर भागता गया, लेकिन थोड़ी ही देर में कई कुत्ते उसका पीछा करने लगे। आखिरकार घवड़ा कर उस कुत्ते ने हड्डी के टुकड़े को चबाने की कोशिश करते हुए फेंक दिया। उससे उसके मुंह में खून आ गया और दूसरे कुत्तों ने भी उसे काटा। आज कुछ ऐसी ही हालत वैभव सम्पन्नता में मदोन्मत्त बने व्यक्तियों और राष्ट्रों की हो रही है—ऐसा जान पड़ता है। धन के पीछे मानवता के शुद्ध व सरल सिद्धान्तों की भी तिलांजलि दे दी जाती है।

आज देखा जाता है कि चेतन संसार जड़ अर्थ से शासित हो रहा है। मानव जी रहा है मानवता खोकर। इस अर्थ-मोह के पीछे जहाँ मानवता को विस्मृत किया जाता है वहां मर्यादा रक्षा और साधुता की आशा करना दुराशा सी ही जान पड़ती है। अर्थ संग्रहकी भट्टियोंमें ईर्ष्या, द्वेष, कलह, स्वार्थ और माया

लोभ की ऐसी भीषण आग जलती है कि आत्मोत्थान के पथ पर भयंकर विस्फोट होते हैं, जो जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा को विनाश एवं पतन के अन्ध कूप में ढकेल देते हैं।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि इन सारे बाह्य आवरणों में मानव जीवन की विशिष्टता रही हुई नहीं है, तो सवाल उठता है कि फिर मानव जीवन दुर्लभ क्यों है—उसकी विशेषता क्या है ?

यही वह जीवन है, जहाँ संसार के गति चक्र में भटकती हुई आत्मा अपने उत्थान के लिये संघर्ष कर सकती है और विकारों को काट कर चरम विकास को भी प्राप्त कर सकती है। चूंकि विकास का विवेक और प्रयासों की सफलता इस जीवन में चोटी तक पहुंच सकती है, मानव जीवन की सबसे बड़ी विशिष्टता है। इसीलिये यह दुर्लभ है कि जहां मनुष्य को अपनी प्रगति दिशा का संकेत मिलता है, अन्तिम विकास तक को पा लेने की शक्ति मिलती है।

मानव जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेपता नहीं है, पाकर उन्हें निस्पृह भाव से त्याग देने में उसकी परम विशेपता रही हुई है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है—

जे य कंते पिये भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, से हु चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी

उन्हें आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धन-संग्रह जहाँ दुःख-क्लेष का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृह भाव से त्याग करने में महान् आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धान्त से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसा कर मानव जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिये अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, ओक की खेती के लिये स्वर्ण के हल से धरती को खोदने वाले और कोद्रे अन्न के लिये कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धनलिप्सा व मिथ्या व्यामोहोंमें फंस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना और मानव जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही में खो देना है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आज का संसार, जो केवल भौतिक पदार्थों की प्राप्ति में ही सुख के अस्तित्व और मानव जीवन की सफलता मानता है, वह अवश्य ही मिथ्या भ्रमणा में है और इस तरह मानव जीवन की यथार्थ महत्ता नष्ट हो रही है। मानव जीवन और जगत् का विशाल धरातल मानव को सच्चे सुख की अनुभूति उसी समय करा सकेंगे, जब

धर्म के मर्म को समझ कर जीवन की दिशा विशुद्ध धर्माचरण की ओर मोड़ी जायगी।

मानव जीवन की विशिष्टता का तभी अनुभव हो सकेगा कि आत्मा को पतन से बचा कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अनुकम्पा, सहानुभूति, उदारता, विशालता, विशुद्धता आदि प्रगतिशील वृत्तियों को ग्रहण करके विकास मार्ग पर कदम बढ़ाये जाते हैं। क्योंकि इन वृत्तियों को अपनाने की शक्ति के फल-स्वरूप ही संसार के अन्य प्राणियों में मानव का विशिष्ट स्थान है और यदि मानव ही इन वृत्तियों से हीन रहता है तो वह "पुच्छविषाणहीनः पशुभिः समानः" ही है। परन्तु मेरी दृष्टि में तो कर्त्तव्यहीन मानव को पशु की उपमा देना भी पशुत्व का अपमान करना है, क्योंकि पशु तो ज्ञान के दर्जे में नीचे गिरा हुआ होता ही है लेकिन ज्ञान का ठेकेदार बना आज के वैज्ञा-निक युग का मानव जब पशु से भी अधिक वर्बर, अमानुषिक व अज्ञान हो जाता है, तब पशु से भी अधिक निकृष्ट ही तो हुआ। आज के शोषक मानव की राक्षसी जिह्वा रातदिन निर्दोष प्राणियों के रक्त-शोषण हित जैसे लपलपाती रहती है और यही विकृत वृत्ति उसे मानवता से गिराये हुए है।

मनुष्य की इसी हिंसक प्रवृत्ति ने शान्ति और सुरक्षा के नाम पर युद्ध की विभीषिका तैयार कर रखी है। किन्तु यह याद रखा जाना चाहिये कि रक्तरंजित हृदयों में कभी भी शान्ति का सिंहासन नहीं लगता। शान्ति का सिंहासन तो

अहिंसा और विश्वप्रेम के राजमंडप में ही लगता है और तभी उसमें स्थायित्व भी आता है। अहिंसा ही मनुष्य के दृष्टिकोण को व्यापक व उदार बनाती है तथा उसमें सच्ची मानवता की भावना को जागृत करती है। जीवन के हर क्षेत्र—आचार और विचार में जब अहिंसा का प्रवेश होता है तब क्या तो विश्व में और क्या समाज व मानव के निजी जीवन में विकास का एक प्रकाश चमक उठता है, जिसके बल पर मानव जीवन की शुभ्र विशिष्टताएँ प्रकाशित हो उठती हैं।

इन्हीं विशिष्टताओं को कुचल कर मानवता को रौंदने वाले कुछ कारण होते हैं, उनमें अहिंसा और शान्ति को मिटा कर अपने स्वार्थों को पूरा करने वाला वर्ग मानवता के विनाश के लिये सबसे अधिक उत्तरदायी होता है। पिछले दो विश्वयुद्धों के अति कटु अनुभवों के बाद भी बड़ों २ की वर्ग-स्वार्थवादिता के पीछे फिर से निर्दोष मानवता को तीसरे विश्वयुद्ध की भट्टी में ढकेलने के दुष्प्रयत्न किये जा रहे हैं और यदि जनता द्वारा किये जाने वाले शान्ति-प्रयास सफल नहीं हुए और युद्ध की आग भड़क उठी तो कहा नहीं जा सकता कि उसमें मानवता की समृद्ध सभ्यता, दर्शन और संस्कृति विनाश की किस अवस्था को पहुंच जायेंगे ?

और देखा जाय तो युद्ध की भूमिका तैयार करने में भी जो कारण बनते हैं, उनकी रचना भी मानवता के केन्द्र बिन्दु से हटने में ही होती है। युद्धों की पृष्ठभूमि जटिल अर्थलिप्सा में

समाविष्ट है। वहुसंख्यक जनता के रक्तशोषण पर जब पूंजीवाद फलता है तो उस शक्ति पर साम्राज्यवाद की नींव पड़ती है और ये युद्ध अधिकतर साम्राज्यवादियों के अपने स्वार्थ संघर्षण से उत्पन्न होते हैं। इन युद्धों से आम जनता का अक्सर कोई वास्ता नहीं होता। कुछ सशक्त वर्गों का विशाल स्वार्थ दावानल वन कर संसार की हरितिमा को जलाता है और मानवता का दाह संस्कार करता है।

किन्तु यह विस्मृत नहीं किया जाना चाहिये कि समूची भारतीय संस्कृति में मानव जीवन को विशिष्ट माना है, अहिंसा और सदाचरण की भूमिका पर उसमें मानवता के जगाने को लक्ष्य वनाया गया है। यह आदर्श भारतीयों के कन्धों पर विशेष उत्तरदायित्व रखता है। इनके जीवन का प्रत्येक आचरण इस दिशा में आगे वढ़ाने वाला हो जो अहिंसा और विश्व-शान्ति की धवल दिशा है। विचारों और वाणी में अहिंसा का भाव झलके ही, किन्तु उसका विस्तार दैनिक जीवन में पैदा होने वाली प्रत्येक आवश्यकता और उसकी पूर्ति के साधनों व प्रयासों तक भी फैले। मनुष्य के काम आने वाले प्रत्येक पदार्थ को देखा जाना चाहिये कि उसके तैयार होने में कैसे साधनों का प्रयोग किया गया है? क्या वे साधन वैसे तो नहीं हैं जिनसे मानवता पर ही आघात लगता है? उदाहरण के लिये समझिये, आप वड़े मुलायम और चमकीले वस्त्र पहनते हैं, वढ़िया वूट पहनते हैं तो क्या कभी इतना सोचने का कष्ट किया है कि इनके

तैयार करने में कितने पशुओं को कितनी भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती है ? मैं पूछता हूं, क्या मानवता के नाते आपके हृदय में कभी दुःख की टीस उठती है ? क्या न जाने कितने निरीह पशुओं के जीवन से आपका यह श्रृंगार अधिक आवश्यक है ? यह सब मानवता विरोधी तत्त्वों का पोषण ही कहा जायगा।

अतः मानव-जीवन की विशिष्टता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि आप प्राणीमात्र के सरल प्रेम से अपने हृदय को आप्लावित कर जीवन के प्रत्येक आचरण को अहिंसा के तराजू पर तौलें और यह जानने की चेष्टा करें कि कितने अंशों में आपका जीवन अहिंसामय और त्यागमय बन सका है, उसमें मानवता की कितनी प्रधानता स्थापित हो सकी है ?

मानव जीवन की विशेषता मानवता प्राप्त कर धर्माचरण और महान् गुणों के सम्पादन में है तथा इसी दृष्टिकोण से जीवन में यदि इसके आदर्शों पर अमल किया जायगा तो वास्तव में मानव जीवन की सही विशिष्टता और दुर्लभता का भान हो सकेगा।

दीन और दयालु

"श्री मुनिव्रत साहिवा,
दीन दयाल देवतणा देव के..."
तारण तरण प्रभु मो भणी
उज्ज्वल चित्त सुमरूं नितमेव के

वास्तव में भगवान की कृपा—अपने अन्तर की दृढ़ता उन्हीं सद्भागियों को प्राप्त होती है, जो अपने जीवन को भगवद्भक्ति के लिये—साधना की एकनिष्ठ दिशा में समर्पित कर देते हैं। इस जीवन समर्पण के हेतु उस पथ पर पग बढ़ाने होते हैं, जिस पथ पर ईश्वरत्व प्राप्त करने वाली उन्हीं महान् विभूतियों के पदचिह्न अंकित हों। महान् पुरुषों का रास्ता सेवा और त्याग का रास्ता होता है—अपने जीवन की कठोर कसौटी का रास्ता होता है। तो जो उस रास्ते पर चलने के लिये अपने आपको कटिबद्ध कर लेता है—उसे ही भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकती है। तभी उसे अपने मंजिल की ज्योति दिखाई देती है और तब वह व्यग्र हो उठता है—उस ज्योति तक शीघ्र से शीघ्र पहुंच जाने के लिये। उसकी गति में शक्ति पैदा हो जाती है कि वह अन्त तक बढ़ कर उस ज्योति को छू ले। भगवान् भी तो उस

ज्योति के साथ एक दृष्टि से एकीभूत होने वाले महान् व्यक्तित्व के चरम विकास की ही स्थिति का नाम है।

भक्त साध्य की उस ज्योति में उसी महान् व्यक्तित्व की झलक देखता है और कवि विनयचंद जी की तरह प्रेमस्वर में बोल उठता है—हे मुनि सुव्रत भगवान्, आप दीनदयालु हैं, देवों के भी देव हैं, क्योंकि उस परम ज्योति में आपके प्रकाश की झलक मुझे भी एकीभूत होने की अपूर्व प्रेरणा प्रदान कर रही है।

यही सहायता और महान् सहायता जो प्रभु से प्राप्त होती है—साधक जीवन को ऊपर उठाने के लिये। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रभु का यह सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है, जब हम स्वयं हमारे सहयोगी बने हुए हों अर्थात् हमने अपनी सारी शक्तियां विकास के पथ की ओर अग्रसर होने के लिये नियोजित कर दी हो।

यह सत्य है कि भगवान् दीनदयालु हैं, परन्तु यह समझने की आवश्यकता है कि दीन कौन और उसके लिये दयालु कैसा ? दीन का अर्थ भिखारी, निर्धन, भूखा या दुःखी नहीं, बल्कि 'दीन' शब्द का वास्तविक अर्थ तो यह है कि जिसने अपने हृदय मन्दिर में जो अहंकार और दंभरूपी विकारों को पूर्णतया नष्ट कर दिया है, वही दीन है, नम्र है और इसलिये वही भगवान् की सच्ची भक्ति कर सकता है। भगवान् भक्तों पर

रिझते हैं यह किसी दृष्टि से कहा जा सकता है—कवि सूरदास भी तो गा गये हैं, भगवान् की ओर से वकालत करते हुए कि—

"हम भक्तन के, भक्त हमारे"

ऐसे ही दीनों पर भगवान् दया करते हैं, इसलिये वे दीन-दयालु कहलाते हैं। बीज तभी फल सकता है जब खेत खोद-खोद कर तैयार किया हुआ हो। यदि खेती के योग्यं ही धरती को नहीं बनाया गया तो बीज वेचारा उसमें क्या करेगा ? अतः भक्त को भगवान् की दया रूपी बीज लेने से पूर्व अपने जीवन-रूपी खेत को योग्य वनाना होता है। तभी भगवान् दया करते हैं और उनके आदर्श का हम सफलतापूर्वक अनुकरण करने के योग्य अपने आपको वना सकते हैं। भक्तिमार्ग में पहुंचने के लिये यही साधन है कि दंभ व अभिमान त्याग कर एकाग्रचित्त से सदाचरण रूप प्रभु प्रार्थना में अपने मन को लगा दें।

सच्चा भक्त वही है जो अपने मुंह से भगवान् के समक्ष अपने अपराध और विकार स्वीकृत करता हुआ प्रार्थना करे कि—हे भगवन्, मैं तो अभिमानी हूं, आपके सामने कैसे आपकी प्रार्थना करूं ? और तव भक्त की तरल नम्रता और सरलता में भगवान् का दया स्त्रोत उमड़ पड़ता है।

आज तो मनुष्य अपनी ही योग्यता की तारीफ के पुल बांधते हुए नहीं अघाता, जबकि वास्तव में दुनिया की नजर से छिपे २ दोषों की काली कालिमा से वह खेल खेलता है। ऐसा मनुष्य भक्त नहीं, पाखण्डी होता है, जो पतन के गहरे गर्त में

ज्योति के साथ एक दृष्टि से एकीभूत होने वाले महान् व्यक्तित्व के चरम विकास की ही स्थिति का नाम है।

भक्त साध्य की उस ज्योति में उसी महान् व्यक्तित्व की झलक देखता है और कवि विनयचंद जी की तरह प्रेमस्वर में बोल उठता है—हे मुनि सुव्रत भगवान्, आप दीनदयालु हैं, देवों के भी देव हैं, क्योंकि उस परम ज्योति में आपके प्रकाश की झलक मुझे भी एकीभूत होने की अपूर्व प्रेरणा प्रदान कर रही है।

यही सहायता और महान् सहायता जो प्रभु से प्राप्त होती है—साधक जीवन को ऊपर उठाने के लिये। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रभु का यह सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है, जब हम स्वयं हमारे सहयोगी बने हुए हों अर्थात् हमने अपनी सारी शक्तियां विकास के पथ की ओर अग्रसर होने के लिये नियोजित कर दी हो।

यह सत्य है कि भगवान् दीनदयालु हैं, परन्तु यह समझने की आवश्यकता है कि दीन कौन और उसके लिये दयालु कैसा? दीन का अर्थ भिखारी, निर्धन, भूखा या दुःखी नहीं, बल्कि 'दीन' शब्द का वास्तविक अर्थ तो यह है कि जिसने अपने हृदय मन्दिर में जो अहंकार और दंभरूपी विकारों को पूर्णतया नष्ट कर दिया है, वही दीन है, नम्र है और इसलिये वही भगवान् की सच्ची भक्ति कर सकता है। भगवान् भक्तों पर

और अन्दर ही आत्मा को कोसता रहे। तभी अपराधों की सच्ची आलोचना हो सकती है।

गांधीजी ने अपने दोषों का वर्णन अपनी आत्मकथामें क्यों किया? वह इसीलिये कि दुनिया जान सके उनके चरित्र का सच्चा रूप और उनके जीवन के उतार-चढ़ाव का स्पष्ट क्रम। अपना सच्चा चरित्र दुनिया के सामने रख देने से मनुष्य में जो एक वृथा अभिमान एकत्रित हो जाता है, वह नष्ट होता है और उसके हृदय में नम्रता और सच्चाई का संचार होता है।

अपने दोषों को छिपा कर मनुष्य समझता है कि वह अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा कर रहा है और डरता है कि कोई उन दोषों को जान न ले। किन्तु वह वास्तविक प्रतिष्ठा नहीं, केवल उसका मिथ्याभिमान मात्र होता है जो हमेशा नीचे गिर कर ही रहता है। इसके विपरीत दोषों को प्रकट कर देने से उसे वह झूठा डर नहीं रहता और सच्चाई से अपना चरित्र निभाने का उसका साहस फलता-फूलता है। छिपाने से दोष जीवन-पतन के कारण भूत बनते हैं, वहीं उनको यदि सच्चे और ईमानदार दिल से सबके समक्ष प्रकट कर दिया जाय तो वे ही दोष जीवन को गुण रूप में बदल कर ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अतः जीवन की विनम्रता जीवन में अमृत रस घोल कर उसे सर्वप्रिय और भगवद्प्रिय बना सकती है।

वर्तमान युग न जाने कितनी विपरीतताओं से भरा पड़ा है? कोई अपराधी अपना अपराध तहेदिल से स्वीकार कर

जा गिरता है। यदि हमें सच्चे भक्त बनना है तो कवि सूरदास जी जैसी विनम्र व सरल वृत्ति को अपनाना पड़ेगा—

मो सम कौन कुटिल खलकामी।
तुमसे कहा छिपाऊं, करुणानिधि ! तुम उरअन्तर्यामी॥
भरि-भरि उदर विषय रस पीवत, जैसे शूकर ग्रामी।
जो तन दियो ताहि विसरायो, ऐसे नमक हरामी॥

कितना मार्मिक रस प्रवाहित होता है इन पदों में ! सूरदास जी कहते हैं—हे भगवन्, मेरे समान इस संसार में दूसरा कौन कुटिल, दुष्ट और विषयी होगा ? तुम तो प्रत्येक प्राणी के हृदयगत भावों को पहिचानते हो, अतः तुमसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है। इस प्रकार भगवान् के सामने विनयावनत होते हुए सच्चे हृदय से वे अपने दोषों का आख्यान करते हैं कि ग्राम शूकर की तरह मैं अतीव गृद्धिपूर्वक संसार के काम विषयों का सेवन करता हूं और ऐसा नमक हरामी बन गया हूं कि जिससे मुझे यह जीवन मिला है, उसी दयालु का मैंने विस्मरण कर दिया है। यह भक्ति और प्रार्थना का स्वरूप है।

यदि हमें भी दीनदयालु की दया प्राप्त करनी है तो सर्वदा अपने छल, छद्म, द्वेष, कपट आदि त्याग कर अपने दोषों व अपराधों की आलोचना करने के लिये, प्रायश्चित्त एवं आत्म-शुद्धि हित अपने दोष गुरु एवं भगवान् के समक्ष प्रकट कर देने चाहिये। एक भी अपराध ऐसा न हो, जो इनसे छिपा रह जाय

और अन्दर ही आत्मा को कोसता रहे। तभी अपराधों की सच्ची आलोचना हो सकती है।

गांधीजी ने अपने दोषों का वर्णन अपनी आत्मकथामें क्यों किया ? वह इसीलिये कि दुनिया जान सके उनके चरित्र का सच्चा रूप और उनके जीवन के उतार-चढ़ाव का स्पष्ट क्रम। अपना सच्चा चरित्र दुनिया के सामने रख देने से मनुष्य में जो एक वृथा अभिमान एकत्रित हो जाता है, वह नष्ट होता है और उसके हृदय में नम्रता और सच्चाई का संचार होता है।

अपने दोषों को छिपा कर मनुष्य समझता है कि वह अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा कर रहा है और डरता है कि कोई उन दोषों को जान न ले। किन्तु वह वास्तविक प्रतिष्ठा नहीं, केवल उसका मिथ्याभिमान मात्र होता है जो हमेशा नीचे गिर कर ही रहता है। इसके विपरीत दोषों को प्रकट कर देने से उसे वह झूठा डर नहीं रहता और सच्चाई से अपना चरित्र निभाने का उसका साहस फलता-फूलता है। छिपाने से दोष जीवन-पतन के कारण भूत बनते हैं, वहीं उनको यदि सच्चे और ईमानदार दिल से सबके समक्ष प्रकट कर दिया जाय तो वे ही दोष जीवन को गुण रूप में बदल कर ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अतः जीवन की विनम्रता जीवन में अमृत रस घोल कर उसे सर्वप्रिय और भगवद्प्रिय बना सकती है।

वर्तमान युग न जाने कितनी विपरीतताओं से भरा पड़ा है ? कोई अपराधी अपना अपराध तहेदिल से स्वीकार कर

लेता है फिर भी उसे पूर्णतया क्षमा नहीं किया जाता। कई कानून तो दरअसल ऐसे हैं, जिनकी मार गरीबों पर ही अधिक पड़ती है। निरपराधी अपराधी घोषित हो जाते हैं और अपराधियों का पता तक नहीं चलता। दंड भी आजकल ऐसे दिये जाते हैं जिनसे अपराधी अपने को भविष्य के लिये सुधार लेने के बजाय बिगाड़ ही अधिक लेता है। वास्तव में जैसा कि गांधी जी ने एकबार कहा था—"सारी जेलें अपराधियों के लिये मानसिक अस्पताल के रूप में होनी चाहिये। दंड वैसा और इसलिये दिया जाना चाहिये कि अपराधी को अपराधमय जीवन से घृणा उत्पन्न हो जाय और वह अपने अपराधों को स्वीकार करता हुआ आगे के लिये अपराध क्षेत्र में कभी भी फिर से न घुसने की प्रतिज्ञा कर ले।"

कहा जाता है कि जेलों में कुछ सुधार हो रहे हैं। अपराधी का वहां मनोवैज्ञानिक शिक्षण भी होता है तथा औद्योगिक शिक्षण भी कि उनके सामने अपराध क्षेत्र में फिरसे घुसने के लिये आर्थिक विवशता भी पैदा न हो सके। किन्तु मनोवैज्ञानिक शिक्षक इतने ऊँचे चरित्रवान् जब तक नहीं हों कि अपराधियों और क्रूर अपराधियों पर भी अपना प्रभाव डाल कर उनके मन पर यत्किंचित् नियंत्रण पा सके और उन्हें आत्म-विकास का मार्ग दिखा सके, तब तक उनका हृदय परिवर्तन नहीं हो सकेगा। पैरों की बेड़ियाँ और हाथों की हथकड़ियाँ तो अपराधी के शेष जीवन को और भी अधिक तबाह करती हुई

देखी जाती है। किन्तु मन पर लगी बेड़ियाँ सचमुच ही अपराधी के जीवन स्तर को बहुत ऊपर उठा देगी। अंगुलीमाल की कथा इस सत्य का प्रमाण है।

अंगुलीमाल एक भयंकर डाकू था। अंगुलीमाल नाम ही उसका इसलिये पड़ा कि जो कोई भी अधिक बली उसे दिखाई देता, उसकी अंगुलियाँ काट कर माला बना उसे पहिनता। उस समय राजा प्रसेनजित् उसे पकड़ने की विचार से एक बड़ी सेना लेकर निकले। उधर जंगल में डाकू को अपने सामने महात्मा बुद्ध आते हुए दिखाई दिये। उनके तेज को देख कर अंगुलीमाल ने उनकी भी अंगुलियाँ काट डालने का अपना निश्चय उन्हें कह सुनाया। इस पर बुद्ध ने उसकी मृत्यु का चित्र खींचते हुए उसे अपने जीवन को कुकृत्यों के बोझ से भारी नहीं बनाने की सलाह दी और उससे सिद्ध करवा दिया कि जिनके लिये वह लूट-मार एवं हत्याएँ करता है, वे निकट सम्बन्धी भी उसके दुःख में सहायक होने वाले नहीं हैं। फिर बुद्ध ने उसे उपदेश देना शुरू किया—आत्मा सच्चिदानन्द है। वह तो कभी मरता नहीं। बदलता है तो यह शरीर और इसको मारने, न मारने का कोई विशेष अर्थ नहीं। तीनों कालों में व्याप्त, साधना के बल पर स्वयं प्रकाशित एवं विशुद्ध परमानन्दमय यह आत्मा तो निरन्तर चमकने वाला प्रकाश पुंज है। इस प्रकाश-पुंज की ओर देखने वाले को फिर मृत्यु का या किसी प्रकार का भय रह ही नहीं जाता है। उसका ध्यान तो आत्मा के अमरत्व पर

केन्द्रित होकर उसके उत्थान मार्ग पर कठोरतापूर्वक प्रवृत्त हो जाता है।

यह सब सुनकर अंगुलीमाल को उद्‌बोधन हुआ। वह सोचने लगा कि बलशालियों को मार कर उनकी अंगुलियों की माला पहिनने का उसका गर्व वृथा है। वह किसे मारता है? आत्मा तो मरता नहीं, शरीर तो उसका चोला है जो बदलता ही रहता है। उसकी भावनाओं में सुष्ठु परिवर्तन आया और तब वह "बुद्धं शरणं..." चला गया। दीक्षा देकर बुद्ध भिक्षुक अंगुलीमाल को अपने विहार में ले गये।

इधर राजा प्रसेनजित् अपना सैन्य समूह लेकर अंगुलीमाल को पकड़ने के लिये वन की ओर जा रहे थे। विहार के पास निकलते हुए बुद्ध के दर्शन कर लेने की उनकी इच्छा हुई। वन्दना के पश्चात् जब राजा ने अपने आगमन का प्रयोजन बताया तो बुद्ध ने पूछा—हे प्रसेनजित्, यदि अंगुलीमाल ने अपने दुष्कृत्यों को त्याग कर भिक्षुक की दीक्षा ग्रहण कर ली हो तो तुम क्या करोगे? राजा यकायक बोल उठे—ऐसी अवस्था में तो मैं उन्हें वन्दन करूंगा। तब बुद्ध ने अंगुलीमाल के जीवन परिवर्तन पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए बताया कि अब वह ऊपर उठ गया है। उसने खुद ने अपने मन पर बेड़ियाँ लगा दी है। तुम्हारी बेड़ियाँ अब उसके लिये निष्प्रयोजन है। वह तो अब तुम्हारे लिये भी वन्दनीय हो गया है। यह कह कर बुद्ध ने

राजा को भिक्षुक अंगुलीमाल के दर्शन कराये। राजा ने भी उनके जागृत भावों की सराहना करते हुए उन्हें वन्दन किया।

तो आत्मोत्थान का यह सबसे ऊँचा मार्ग है कि हम अपना मानस पटल परिष्कृत करके अपने आपको सरल व विनम्र हृदय बना लें। बचपन की सी सरलता यदि पूरे जीवन के साथ घुलमिल जाय तो वही मनुष्य योगी कहलाने लगता है। कुटिलता और मायाचार मनुष्य की फलीफूली जीवन वाटिका को उजाड़ कर वीरान बना देते हैं और उसे अकेला व्यथितावस्था में छोड़ देते हैं—दुष्कृत्यों की चट्टानों पर अपना सिर फोड़ २ कर बुरी तरह से मर जाने के लिये। अपने व दूसरों के साथ सच्चा न्याय भी वही कर सकता है जिसका हृदय पूर्णरूपेण शुद्ध तथा सरल हो। अपने प्रति न्याय करने का अर्थ है कि हम सत्य साध्य की ओर उन्मुख होंगे तथा उस प्रकाश की झलक के लिये द्रुतगति से आगे कदम बढ़ा सकेंगे, जिसमें एकीभूत हो जाने में ही जीवन का चरम विकास प्राप्त होता है।

इस प्रकार जब कोई विशुद्ध हृदय के थाल में सरस भाव-कुसुमों का उपहार लेकर भगवान् के चरणों में समर्पण करने के लिये गतिमान होता है और उस समय दीनता का प्रेम संगीत उसके रोम-रोम में प्रस्फुटित हो रहा होता है कि—

दयामय, ऐसी मति हो जाय। दयामय...
त्रिजगत् की कल्याण-कामना, दिन-दिन बढ़ती जाय॥
औरों के सुख अपने समझूं, सुख का करूं उपाय।

अपने दुःख सब सहूं किन्तु, पर दुःख देखा ना जाय ॥
दयामय, ऐसी मति हो जाय ॥

तभी दीनदयालु ऐसे प्राणी पर अपनी असीम दया का भंडार खोल देते हैं।

यह स्पष्ट करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं कि भगवान् की भक्ति का अर्थ ढोलक, ताल, मजीरा लेकर राग अलापने से नहीं, बल्कि उसका सच्चा और वास्तविक अर्थ दुनिया के गिरे हुए प्राणियों के बीच में खड़े रह कर उनको अपने चरित्र व जीवन विकास के बल से ऊपर उठाने में रहा हुआ है। दलितों और पतितों की सच्ची सेवा ही एक दृष्टि से भगवान् की कह सकते हैं। अपने आपके स्वार्थों को विसार कर दूसरों की सेवा में तल्लीन हो जाने का नाम भी भक्ति है। और इसीलिये कहा गया है कि भक्ति वही कर सकता है, जिसने छल-छद्म को त्याग कर अपने हृदय को इतना नम्र व सरल बना लिया हो कि आत्म-विकास में विसर्जन एवं जीवन समर्पण का भाव उसमें उत्पन्न हो उठा हो। हृदय को शुद्ध किये बिना सेवा नहीं की जा सकती। सेवा करने के लिये स्वयं को दीन बनाना ही पड़ता है और यह कहा जा चुका है कि भगवान् दीनों पर दया करते हैं। अतः जब मनुष्य की दीनावस्था परिपक्व हो उठती है, तब उसे मंजिल की ज्योति दिखाई देती है और उस प्रकाश की झलक की तरफ फिर उसे आगे बढ़ते रहने से संसार की कोई शक्ति रोक नहीं सकती। क्योंकि उस समय उसके आत्म-बल का

पलड़ा किसी भी बल से भारी ही पड़ेगा। लोक-कल्याण की भावना ने जिसके हृदय को अभिभूत कर लिया है, भला उसका पथावरोध कर भी कौन सकता है ?

आज जबकि चारों ओर से गरीबों पर विपत्तियों के बादल मंडरा रहे हैं, ऐसे ही दीनों की आवश्यकता है जो उनके हृदयों में विकास का नया बल संचारित कर सकें। क्योंकि आज ठीक वैसी ही अवस्था है, जैसा कि महाकवि तुलसीदासजी कह गये हैं—

माया से माया मिली, कर कर लम्बे हाथ।
तुलसी हाय, गरीब की, कोय न पूछे बात॥

वर्तमान युग में चेतन पर जड़ का राज्य हो रहा है। धन के सामने जैसे मनुष्य की कोई कीमत नहीं। धन के लिये मनुष्य मरता है, मारता है, अन्याय करता है, गरीबों को चूसता है और उस सारे व्यापार में अपने सुख ढूंढने की कुचेष्टा करता है। लेकिन इस सारे व्यापार का परिणाम वही होता देखा जाता है जैसी कि अपेक्षा की जाती है कि जीवन भर हाय-हाय करता हुआ बिना सुख की सांस लिये ही वैसा मनुष्य दुःखान्त रूप से अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेता है। धनवान का सब कहीं आदर किया जाता है, परन्तु सीधे-सादे मजदूर किसानों को कोई नहीं पूछता। धनवान बन जाने पर दुःखानुभव की वृत्ति शिथिल पड़ती हुई देखी जाती है और यही कारण है कि बाद में दुःखी गरीबों को भयंकर त्रास देते हुए भी उन्हें लज्जानुभव नहीं होता। गरीबों की झोपड़ियों में आग लगा कर

अक्सर पूंजीपति खुश होते हैं किन्तु वे यह नहीं सोचते कि एक दिन उनके महलों में भी आग लग सकती है और फिर उसे बुझाने कौन आयगा ? एक दिन वे भी मृत्यु के कराल मुख में प्रविष्ठ हो जायेंगे और सब कुछ यहीं धरा रह जायगा।

इसलिये उन्हें, जो सम्पन्न हैं, चाहिये कि वे पर दुःख को पहले महसूस करें और अपनी सम्पन्नता का सदुपयोग इस दिशा में करने की सद्वृत्ति बनावें। ऐसी भावना उन्हें सरल हृदय एवं निःस्वार्थ वृत्ति से दीनदयालु के चरणोंमें गिरा देगी कि-

भवोदधि डूबतां तारो, कृपानिधि, आसरो थांरो।

परन्तु यह याद रखना चाहिये कि वह उन्हीं डूबते हुओं को तारने की कोशिश करेगा जो स्वयं तैरता हुआ दीख पड़ेगा। जो जितना अपने आपको भूल कर दूसरों की पवित्र सेवा में तल्लीन हो जायेगा, उतना ही वह अधिकाधिक भगवान् के नजदीक जायेगा और भगवान् के जब समीप जायगा तो उसके साध्य और आत्मा के वीच यदि अंधता का पर्दा हो तो वह भी साफ हो जायगा। आत्मा और परमात्मा का अन्तर कम होता हुआ आत्मा ही परमात्मा रूप को प्राप्त हो जायगा और तव दीन ही दयालु हो जायगा।

यही जीवन का रहस्य है और उसका उत्थान सोपान है और यही दीन, दयालु और उसकी दया के सम्बन्धों का अन्तर्रूप है।

निर्गुण-सगुण-मीमांसा

श्री जिन मोहनगारो छे...
जीवन प्राण हमारो छे...
समुद्र विजय सुत श्री नेमीश्वर
जादव कुल को टीको...

मानव ही उच्चतम विकास का मूल है और जैनधर्म का तो स्पष्ट मत है कि जीवन-विकास का ऊँचा से ऊँचा पद भी—चाहे वह तीर्थंकरत्व का हो वा ईश्वरत्व का—मनुष्य स्वयं अपनी कर्मठशीलता और शुभ पराक्रम से प्राप्त करता है। अन्य कई धर्मों की तरह जैनधर्म का यह विश्वास नहीं कि ईश्वर नाम की एक विशिष्ट शक्ति है और वही समय-समय पर अवतार रूप में इस धरातल पर प्रकट होती है।

जैनधर्मानुसार तो व्यक्ति ही अपने चरम आत्मिक विकास द्वारा ईश्वरत्व को प्राप्त करता है। संसार के गति-क्रम में भटकती हुई सभी आत्माएँ न्यूनाधिक अंशों में विकारजन्य तत्त्वों की कलुषितता लिये होती है किन्तु सभी में प्रायः आत्म-विकास की शक्ति तो समान ही रहती है। अतः इस शक्ति को जो जिन अंशों में अपने त्याग व कठिन साधना द्वारा

प्रस्फुटित करता चला जाता है, उसे ही आत्मोन्नति के प्रशस्त पथ पर प्रगतिशील माना जाना चाहिये।

इस विकास की उच्चतम श्रेणी को दो विभागों में विभक्त किया गया है। एक तो जीवन-विकास से विकसित होकर आत्मा सशरीरी रहती है, जिसे तीर्थंकर (विशिष्ट आत्मोत्थान श्रेणी का नाम) वा सर्वज्ञ संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है तथा दूसरे उस शरीर के भी त्यागके पश्चात् जव आत्मा पूर्णतया निराकार व निर्विकार का स्वरूप धारण कर लेती है, तव वह सिद्धात्मा कहा जाता है।

इसी दृष्टि से उपरोक्त प्रार्थना में ईश्वर की सगुण व निर्गुण दोनों रूपों में आराधना की गई है।

साधारणतया हिन्दू धर्म में सगुण व निर्गुण उपासना का जो स्वरूप है, वह उपरोक्त स्वरूप से कतई भिन्न है। सगुण और निर्गुण शव्दों से तात्पर्य मूर्त्याकार वा निराकार से नहीं, वलिक आत्मा के सर्वोच्च विकास की ऊपर कही गई दोनों श्रेणियों से है। जिन गुणों को वाणी प्रकट न कर सके, इन्द्रियाँ जिसके स्वरूप को पूरी तरह नहीं पहिचान सके, मन की भी जहाँ तक गति न हो और संसार के समस्त जड़ पदार्थों से परे जो अलौकिक, दिव्य व शुद्ध स्वरूप है, उसे ही महात्मा लोग ईश्वर का निर्गुण रूप कहते हैं। इसके विपरीत जिसका चरित्र हमारे सामने देखने में, सुनने में और पहिचानने में आता है, उस सर्वज्ञ ईश्वर को सगुण परमात्मा कहते हैं। तदनुसार सगुण

और निर्गुण स्वरूपों के लिये जैन-दर्शन में तीर्थंकर (सर्वज्ञ) और सिद्ध शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

इन दोनों स्वरूपों में वास्तविक रूप से निर्गुण स्वरूप ही विशेष आदरणीय समझा जाता है, क्योंकि वही हमारा चरम लक्ष्य है और उसमें शारीरिक बन्धन का भी त्याग हो जाता है। किन्तु निर्गुण स्वरूप को प्राप्त करने के पहले सगुण स्वरूप की ही सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती है।

सगुण स्वरूप की प्राप्ति यह प्रकट करती है कि इस जीवन में ही आत्म-विकास की अभिवांछनीय श्रेणी प्राप्त की जा चुकी है और तब शरीर-त्याग के पश्चात् शाश्वत निर्गुण स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

सरल शब्दों में इसका यह आशय होगा कि वर्तमानजीवन के उच्चतम विकास पर ही भविष्य का उज्ज्वल जीवन अवलम्बित है। क्योंकि सिद्ध स्वरूप की जड़ें तो इसी जीवन में लगी हुई हैं और जब तक ये जड़ें मजबूत नहीं हो पातीं, वह इच्छित उज्ज्वल स्वरूप कैसे प्राप्त किया जा सकता है? अतः सर्वप्रथम प्रगति का यही लक्ष्य होना चाहिये कि इसी जीवन में उच्चतम विकास प्राप्त करने के कठिनतम प्रयास किये जांय।

निर्गुण स्वरूप वह अन्तिम श्रेणी है, जहाँ से जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है और आत्मा सदैव के लिये अपने मूल शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। जैसे किसी भी बाहरी भार से दबा हुआ लकड़ी का टुकड़ा पानी के तले पर पड़ा रहता है,

किन्तु ज्यों २ उस लकड़ी के टुकड़े का वह भार हलका होता जाता है, वह ऊपर उठता जाता है और जिस समय वही टुकड़ा पूरी तरह से उस भार से छूट जाता है, वह स्वतः ही पानी की सबसे ऊपरी सतह पर तैरता हुआ आ जाता है। ठीक इसी तरह सम्पूर्ण कर्म-बन्धनों से मुक्त होने पर आत्मा सिद्धिस्थल में विराजमान हो जाती है। उस समय आत्मा का वह तेजस्वी स्वरूप मन से वा बुद्धि से ग्राह्य नहीं होता।

किन्तु साधारण हृदय में यह तर्क पैदा हो सकता है कि वह कैसी स्थिति है, जिसे समझ पहिचान नहीं सकती, बुद्धि जिसके स्वरूप को ग्रहण नहीं कर पाती और मन से भी जिस स्वरूप का अनुभव नहीं किया जा सकता ? इसलिये कवि उस निर्गुण स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

नित्यानन्द, निराश्रय, निश्चल, निर्विकार निर्वाणी।
निरांतक, निर्लेप, निरामय, निराकार वरनाणी॥

इसमें निर्गुण ईश्वर अर्थात् सिद्ध भगवान के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वे नित्यानन्दी हैं—यह उनके स्वरूप का पहला अंश है। नित्यानन्दी का अर्थ है—निरन्तर सनातन आनन्द का अनुभव होते रहना। वह आनन्द कभी खंडित नहीं होता, घटता नहीं। आज जिन सांसारिक बाह्य पदार्थों में आनन्द की मान्यता की जाती है, वह चूंकि विघ्न-विघ्नान्तर पर खंडित हो जाता है, उसे वास्तविक आनन्द नहीं कहा जा सकता। वह तो केवल मात्र आनन्दाभास होता है।

अतः सिद्धावस्था के आनन्द के पहले 'नित्य' विशेषण लगाया गया है।

इसके विपरीत सांसारिक भोगोपभोगों के आनन्द में आनन्द का आरोपण होता है, क्योंकि उस आनन्द में एक-रूपता या निश्चलता नहीं होती। उदाहरणार्थ, किसी को पगड़ी बांधने में आनन्द आता है और किसी को खुला सिर रखने में—अब बताइये कि आनन्द किसमें है? एक शाकाहार में आनन्द मानता है तो दूसरा मांसाहार में। और इसी तरह सांसारिक पदार्थों में आनन्द ढूंढने की कई विभिन्न प्रवृत्तियाँ विभिन्न प्रकृति के विभिन्न व्यक्तियों में पाई जाती है। इसलिये यह आनन्द 'नित्य' नहीं, अपितु कल्पित मात्र होता है, जिसका स्थायित्व उस कल्पना में अस्तित्व तक ही रह पाता है। इस क्षणिक आनन्द से परे जो अविचल एवं गूढ़ आनन्द है, वही वस्तुतः नित्यानन्द है।

निर्गुण स्वरूप का दूसरा गुण बताया गया है कि वह निरा-श्रय है। उसका अस्तित्व किसी पर आश्रित नहीं है। आज आप लोग ही देखिये—एक दूसरे को दूसरे पर कितना आश्रय रखना पड़ता है? आपके दैनिक जीवन-निर्वाह में आत्म-निर्भरता के दर्शन कम होते हैं। हर काम के लिये लोग दूसरों पर निर्भर रहते हैं, अपने श्रम का भान भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि आत्मा उस प्रकाशमय शक्ति का पुंज है कि उसे निज को गतिभान बनाये रखने के लिये किसीके भी आश्रय

की आवश्यकता नहीं और सिद्धावस्था उसी गति का अन्तिम गन्तव्य स्थान है, जहां आत्मा का सर्वशक्तिमान स्वरूप प्रस्फुटित हो जाता है। अतः सिद्ध भगवान् को किसी के कैसे भी आश्रय की क्योंकर कोई आवश्यकता हो ? स्वयं अपनी अनन्त शक्ति एवं अनन्त सुख से परिपूर्ण ज्योतिर्मय आत्म-स्वरूप में वे सर्वदा तल्लीन रहते हैं।

तीसरे, वे निश्चल हैं, जो किसी भी शक्ति से चलायमान नहीं किये जा सकते। हमारी गति तो चल है। ध्वजा से चलने वाली वायु से भी चित्त की चंचल गति तेज होती है। योगों की इतनी चपलता है कि वे स्थिर नहीं रह सकते। परिपूर्ण निश्चलता की अवस्था केवल सिद्धस्वरूप में ही प्राप्त होती है, क्योंकि तीर्थंकर भी जो अनन्त शक्ति के धारक होते हैं, योग-प्रवाह में कतई निश्चल नहीं रह पाते। वे भी जिस हाथ को पृथ्वी पर से उठा लेते हैं, उसे पुनः उन्हीं आकाश प्रदेशों पर नहीं रख सकते। अतः यह निश्चलता निर्गुण स्वरूप का ही एक विशिष्ट लक्षण होता है।

सिद्ध-स्वरूप का अगला लक्षण है कि वे निर्विकार होते हैं। उस अवस्था में समूचे विकार विनष्ट हो जाते हैं। सांसारिक आत्मा तो विकारयुक्त होती है—मानसिक, वाचिक व कायिक कई विकार उसके पीछे लगे हुए हैं। इसी कारण सच्चे जीवन-विकास के अभाव में वह संसार के उतार-चढ़ावों में चक्कर काटती रहती है। जैसे मशीन के पहिये के ठहरने का कहीं अन्त

नहीं होता, वैसी ही दशा इस दुनियावी वातावरण में विकारी आत्मा की होती है। विकार के विनाश का अंत यही सफल उपाय हो सकता है कि सत्पुरुषार्थ किया जाय और हृदय की अन्तर्वेदना से उन विकारों से विलग होने के प्रयास किये जायं। जिन्होंने यह निर्गुण स्वरूप प्राप्त किया है, उन्होंने भी इस तरह साधना के मार्ग पर चल कर उसे प्राप्त किया है और इसी मार्ग पर चल कर कोई भी स्वयं को निर्विकार बना सकता है।

फिर सिद्ध परमात्मा निर्वाणी हैं अर्थात् पुनः वे संसार में नहीं आते। अवतारवाद की परम्परा को क्रान्तिकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह आत्मा की सर्वोच्च विकास-स्थिति से अलग ही ईश्वरत्व की विलग शक्ति का निरूपण करती है, जो मनुष्य को उस विशिष्टता के प्राप्त करने में असमर्थता की कटु अनुभूति देती है।

सिद्ध निरांतक और निर्लेप भी हैं। उनके साथ ऐसा कोई कर्म बन्धन का घातक रोग संलग्न नहीं होता, जो उन्हें संसार के जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करने के लिये विवश करे अथवा उनकी निज की भी किसी सांसारिक पदार्थ के प्रति आसक्ति नहीं, किसी तरह का लेप नहीं। उनका संसार के प्रति रुख अनासक्त व निर्लेप होता है। देह से रहित आत्मा का चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाला उनका कोई आकार नहीं होता। वे निराकार, निरामय और श्रेष्ठतम ज्ञान से संयुक्त होते हैं।

निर्गुण स्वरूप की इस विशद् व्याख्या को समझने के लिये—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सगुण स्वरूप के महत्त्व को भलीभांति समझ लिया जाना चाहिये। भगवान् अरिष्टनेमि के सगुण स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए ऊपरोक्त प्रार्थना में ही कवि वर्णन करते हैं—

सुन पुकार पशु की करुणा कर, जानि सकल सुख फीको।
नर भव नेह तज्यौ जोबन में, उग्रसेन नृप धी को॥

इस एक ही पद में कवि ने सगुण स्वरूप की विशिष्टता का दिग्दर्शन करा दिया है।

विश्व के इस विशाल रंगमंच पर प्रत्येक मानव जन्म लेता है और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर एक दिन यहाँ से विदा भी ले लेता है किन्तु जीवन में सगुणता उसी को प्राप्त होती है जो अपने जीवन की सभी शक्तियों को दलितों, पतितों, दुःखितों और पीड़ितों की सच्ची सेवा में नियोजित कर देते हैं। स्व-पर-हिताय आत्म-रमणता सगुण स्वरूप का जनक होता है और अपेक्षा से इसी आत्म-रमणता की संपूर्ण अन्तिम श्रेणी को कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति की स्थिति का नाम दिया जा सकता है।

यही वर्णन कवि ने भगवान् अरिष्टनेमि की ऊपरोक्त प्रार्थना में किया है। वधहित एकत्रित पशुओं के करुण क्रन्दन को सुन कर अरिष्टनेमि का हृदय अत्यन्त ही द्रविभूत हो गया और उनकी रक्षा के लिये उन्होंने अपने विवाह तक का विचार भी

त्याग दिया। यह था उनका सगुण स्वरूप, जो हमारी बुद्धि और मन की बोध-सीमा में ही स्पष्ट हो जाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी महापुरुष जन्म से महा-पुरुष नहीं होता—जन्म के समय तो सभीमें एक सा ही साधा-रण भाव विद्यमान होता है। किन्तु विकास के सोपान पर उनके पांव जल्दी २ बढ़ते हैं और उनकी गति का एक निश्चित लक्ष्य वन जाता है। इस अपने निर्धारित लक्ष्य को वे अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा एवं अप्रतिम तेज के बल पर प्राप्त कर भी लेते हैं और महापुरुषत्व धारण कर साधारण से विशिष्ट हो जाते हैं। गीता में कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति, भारत।
अभ्युत्थानाय धर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्रायाण साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे॥

—गीता, अध्याय ४.

अर्थात्—जब जब हे अर्जुन! संसार में धर्म की अवहेलना होती है, तब तब मैं अपने आपको धर्म के अभ्युत्थान के लिये अवतरित करता हूं। हर युग में मैं साधुजनों की रक्षा हेतु, दुष्कृत्यों को नाश करने से लिये और धर्म की स्थापना में जन्म लेता हूं।

यद्यपि इन श्लोकों में अवतारवाद की पुष्टि की गई है, जिसे ईश्वरत्व के सच्चे स्वरूप पर कलंक लगने से जैनधर्म नहीं

कर्मयोगी जीवन की झलक

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिरनामी तुम भणी...
प्रभु अन्तरजामी आप,
मोपर म्हर करीजे हो...

यह ऋषभदेव परमात्मा की स्तुति है। उन ऋषभदेव की, जिन्होंने संसार को सर्वप्रथम कर्मयोग की चेतना प्रदान की और इसीलिये उन्हें आदीश्वर भी कहा जाता है। जगत् के क्रम को, जोकि उस समय परवशोपजीवी होकर अकर्मण्यता की ठोकरें खा रहा था, उन्होंने क्या तो सांसारिक व क्या धार्मिक क्षेत्र में कठोर कर्मठता की ओर मोड़ दिया।

आज कृष्ण जन्माष्टमी का दिवस है और श्री आदीश्वर स्वामी की प्रार्थना इस अवसर पर इसीलिये की गई है कि श्रीकृष्णका भी जीवन एक कर्मयोगीका जीवन था। आजके दिन को नया दिन कहा जाता है, लेकिन क्यों ? यह दिन तो हर वर्ष आता है और परम्परा के अनुसार इसका आयोजन कर लिया जाता है, फिर इसमें नयापन कैसा ? यह प्रश्न इस कारण विशेष महत्त्व का है कि नयेपन और पुरानेपन की अनुभूति में ही कर्मयोग का रहस्य छिपा हुआ है।

अगर आपसे यह पूछा जाय कि क्या प्रतिदिन सूर्य का उदय नवीन २ रूप में होता है ? आप कहेंगे कि नहीं। किन्तु नवीनता और प्राचीनता का भाव हृदय की अन्तर्विचारणा के अनुसार होता है। जिसका हृदय सजग है अपने विकास के प्रति—उसके लिये प्रत्येक दिन नया दिन है क्योंकि उसकी कर्मठता नित नूतनता में प्रविष्ठ होती रहती है। उसकी महत्त्वाकांक्षाओं में नित नये जागृत विचार प्रस्फुटित होते रहते हैं। परन्तु इसके विपरीत जिन हृदयों में जागृतिभरा जीवन नहीं, उन्हें सब कुछ पुराना ही लगता है, जो एक तरह से विचार-मृत्यु का सूचक है। तो प्रश्न यह था कि क्या प्रतिदिन सूर्य का उदय नवीन रूप में होता है ? आप उसकी नवीनता का रूप कमल के खिलने में देख सकेंगे। सूर्योदय के साथ ही प्रतिदिन नई आभा और नई कान्ति लेकर कमल तो विकसित हो ही जाता है।

विकास के इस दृष्टिकोण को ही गहराई से समझने की आवश्यकता है। महापुरुषों का जीवन उस विशाल सागर के समान है, जिसमें वर्ष में एक दिन तो क्या, जीवन के प्रत्येक क्षण तक भी उसमें गोते लगाते ही रहें तो भी नित नये मोती आपको मिलते ही रहेंगे। चाहिये ऐसा गोताखोर, जो गहराई में डुबकियाँ लगाकर नई २ प्राप्तियाँ—अनोखी उपलब्धियाँ करता ही रहे।

समझिये, इतनी गहराई तक आप एकदम नहीं पैठ सकें तो कम से कम विशिष्ट दिवसों के अवसर पर तो उनसे कुछ

प्रेरणाएँ एकत्रित करें। श्रीकृष्ण की कर्मण्यताभरी जीवन-कहानी से वह प्रेरणा ली जा सकती है कि आप जीवन के सत्पौरुष क्षेत्र में अदम्य साहस लेकर उतर सकें।

प्रतिवर्ष जन्माष्टमी आती है, सार्वजनिक अवकाश हो जाता है, भक्तजन उपवास रखते हैं, कथा सुनते हैं, 'ठाकुर जी' का शृंगार बनाते हैं, भजन-कीर्त्तन करते हैं और प्रसाद आदि बांटते हैं। लेकिन क्या 'गहरे' भक्तों के कर्त्तव्य की केवल कथा-श्रवण, प्रसाद-वितरण में ही इतिश्री हो जाती है ? नहीं, अगर सोचा जाय तो सच्चे कर्त्तव्य की भूमिका तो किसी दूसरे ही ठोस धरातल पर टिकी हुई है। सही कर्त्तव्य है कि उनके जीवन-पथ को समझा जाय और उस पथ पर कदम आगे बढ़ सकें—ऐसी आचरण की प्रेरणा ली जाय। गीता में भी कहा है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥"

श्रेष्ठ पुरुष जिस पथ पर चलते हैं तथा वह जिस पथ को प्रयाण करता है वह पथ आदर्श महानता का प्रतीक बन जाता है। ये जयन्तियाँ आती है जब मनुष्य को अवसर मिलता है कि वह महापुरुप के जीवन-पथ से अपनी जीवन-गति की तुलना करे और उससे अपनी प्रगति वा विगति का अध्ययन कर जीवन में प्रगतिशीलता का प्रवाह लावे। महापुरुषों का जीवन चरित्र इसी हेतु साधारण मनुष्यों के अंधकारमय जीवन में प्रकाश की गहरी रेखाएँ अंकित कर सकता है। जैन इतिहास के

अनुसार श्रीकृष्ण की जीवन घटनाएँ भी ऐसी ही प्रेरणाओं से भरी पड़ी है।

उस समय मथुरा में उग्रसेन राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम धारिणी था तथा उनके कंस व अतिमुक्त-कुमार नामके दो राजकुमार थे। जिस समय कंस गर्भ में था, माता को अपने पति के कलेजे का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। उसे जानकर विचारवान् माँ ने सोचा कि जो बालक गर्भावस्था में भी ऐसे कुविचार का प्रेरक है, वह भविष्य में अवश्य ही अपने पिता का शत्रु होगा। इस विचार से—जब कंस का जन्म हुआ, धारिणी ने शिशु को एक पेटी में बन्द करके यमुना नदी में बहा दिया। वह पेटी बहते २ सौरीपुर नगर तक जा पहुंची, जहां पर समुद्र विजय नाम का राजा राज्य करता था। उस पेटी को एक वणिक् ने जल से बाहर निकाला। उसमें एक शिशु को प्राप्त कर वह अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ व उसका समुचित रूप से लालन-पालन करने लगा। बालक सुन्दर व प्रभावशाली दिखाई देता था, किन्तु १०-१२ वर्ष का होते २ तो वह इतना उद्दण्ड हो गया कि वणिक् ने दुखी होते हुए उसे वसुदेव की सेवा में भेंट कर दिया।

एक बार सीमा-प्रदेश में बड़ा उपद्रव मचा और वहां के छोटे २ जागीरदार सम्राट् जरासंध के विरुद्ध हो गये। जरासंध ने कई प्रयत्न किये और अनेक राजाओं को उन पर विजय प्राप्त करने के लिये भेजा। लेकिन जब सफलता नहीं मिली तो

उन्होंने राजा समुद्रविजय को यह सूचना भेजी कि वे जाकर उस उपद्रव को शान्त करें। इस पर समुद्रविजय के छोटे भाई वसुदेव ने उस कार्य को अपने हाथ में लिया और अपने विश्वस्त योद्धाओं को लेकर उस ओर रवाना हुए। कंस की व उनकी परस्पर मैत्री थी इसलिये कंस भी उनके साथ में चला। कंस ने रण में अद्भुत कौशल दिखलाया और अपने कूटनीतिक प्रयासों से उसने उपद्रवी नेता को पकड़ लिया।

जरासंध ने पहले घोषणा कर रखी थी कि जो भी उपद्रवी नेता को पकड़ लेगा, उसके साथ उनकी राजकुमारी जीवजस्सा-कुमारी का विवाह कर दिया जावेगा। तदनुसार महाराज जरासंध वचनबद्ध थे, फिर भी विवाह से पूर्व उन्होंने कंस के वंश आदि का पता लगाना आवश्यक समझा। उस वणिक् को बुलाया गया, जिसने कंस को वसुदेव की सेवा में भेंट किया था। उसने वास्तविक घटना कह सुनाई और बताया कि शिशु के साथ ही पेटी में उसे एक पत्र भी मिला था, जिसे उसने सम्हाल कर रख दिया था। वणिक् ने वह पत्र प्रस्तुत किया, जिसे पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि कंस तो महाराजा उग्रसेन का कुमार है। कंस को अपने कुल का ज्ञान हुआ तथा उसे अपने पिता पर ऐसे व्यवहार के लिये भयंकर आवेश आने लगा। उसने सम्राट् जरासंध से उनकी पुत्री के साथ अपने विवाह के उपलक्ष में राजा उग्रसेन की ही जागीर की मांग की, जिसे पूरी की गई।

अब कंस अपनी रानी जीवजस्सा के साथ सदलबल मथुरा पहुंचे और अपने पिता को बन्दी बनाकर राज्य करने लगे। वह राज्य क्या था—दमन और अत्याचार की एक बाढ़-सी आ गई। कंस दुर्मति व नृशंस था—उसकी क्रोधाग्नि के सामने जो भी आ जाता—सदोष या निर्दोष—वह बेरहमी से होम दिया जाता। जनता में भयंकर आतंक छा गया। कंस के छोटे भाई अतिमुक्तकुमार भी उस दमन-राज से दुखित होकर दीक्षित हो गये।

कंस के काका के एक देवकी नाम की कन्या थी। उसे युवती हुई जान कर कंस ने वसुदेव के साथ व्याहने का विचार किया क्योंकि उनकी मैत्री के उपकारों का वह किसी न किसी तरह बदला चुकाना चाहता था। उसने वह प्रस्ताव सौरीपुर भेजा, जिसे स्वीकार कर लिया गया और विवाह-मुहूर्त पर वसुदेव बारात सजा कर मथुरा पहुंचे। नगर में चारों ओर सुन्दर सजावट हो रही थी, धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ। इसी समय संयोगवश मुनि अतिमुक्तकुमार भिक्षार्थ कंस के महलों में पहुंच गये। रानी उन्हें देख अहंकार भरकर तिरस्कार-पूर्वक बोली—अरे अधम, इस स्वांग से मांग-खाकर कुल को क्यों लजाते हो? क्यों नहीं महलों ही में आकर रहो? क्षत्रिय होते हुए भी मांगते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती?

मुनि शान्त रहे, पर रानी की गरूरभरी अशिष्टता बढ़ती ही गई तो मुनि ने उसी शान्ति से कहा—रानी, तू किस वस्तु पर

गर्व कर रही है ? यह यौवन, ऐश्वर्य व सब कुछ भोगविलास क्षणभंगुर हैं। तुझे अगर अपने कुल की शान रखने का इतन ही भान होता तो पिता को तो अपने पति से बन्धनमुक्त करव दिया होता। इस पर रानी और भी अधिक निर्लज्जतापूर्वक व्यवहार करने लगी तो मुनि बोल उठे कि रानी, इतना अभि मान मत कर। जिस देवकीका तू इतनी धूमधामसे विवाहोत्सव मना रही है, उसकी ही सातवीं सन्तान तेरे पति का नाश करेगी। रानी यह सुनते ही स्तब्ध सी रह गई और रुष्ट होक कोप-भवन में चली गई।

उधर कंस के दरबार में भी अपनी विद्या के प्रदर्शन हे एक ज्योतिषी उपस्थित हुआ, जिसे कंस ने अपने लिये त्रिका की बात बताने को कहा। इसी सिलसिले में उसने पूछा कि इस संसार में क्या कोई ऐसा रणवीर है जो मुझे भी पराजित क सके ? ज्योतिषीने सोच-गिनकर बताया कि यादव कुल क उद्धारक ही रण में आपके प्राणहरण करेगा। यहसुनकर क्रोधि हो कंस ने उसे बन्दीगृह में डालने का आदेश दे दिया औ महलों में लौट गये।

दोनों के वृत्तान्तों से राजा-रानी की चिन्ता बढ़ गई। अन में कंस ने कुटिलतापूर्वक वसुदेव से उनकी पहली सातों सन्तान को मांग लिया। भोले वसुदेवजी को इसमें कुछ भी बुरा नह लगा, बालक ननिहाल रहें तो उसमें क्या ? वसुदेवजी ने वच दे दिया कि ऐसा ही होगा कि सभी प्रसव आपकेयहां ही होंगे

बाद में वसुदेवजी को पता चला कि रहस्य क्या है क्योंकि मुनि व ज्योतिषी की भविष्यवाणियों की चर्चा नगर भर में फैल गई थी, किन्तु वचन देने के बाद उससे बाहर निकलना न आसान था, न वैसा करना वसुदेव को क्षत्रियोचित ही लगा।

भद्दिलपुर में नाग नामक गाथापति रहता था, उसके सुलसा नाम की भार्या थी, जो मृतवन्ध्या थी। इस कारण उसने हरिण-गमेशी देवता की उपासना की। देव ने उसकी मांग पर आश्वासन दिया कि उसकी होने वाली मृत सन्तान को तो वह जीवित नहीं कर सकेगा, किन्तु किसी दूसरे की सन्तान से अदला-बदली कर देगा जिससे वह सन्तान के लालन-पालन का सुख अनुभव कर सके। संयोगवश सुलसा व महारानी देवकी साथ साथ ही प्रसव करती रही और देवता ने अपनी माया से देवकी के जीवित पुत्रों को सुलसा के यहां पहुंचा दिया और देवकी के यहां मृत पुत्र डाल दिये।

इधर कंस लगातार यह देखकर कि पहले के छःओ पुत्र तो मृत ही पैदा हुए हैं, बड़ा प्रसन्न हुआ और निश्चिन्त सा भी होने लगा कि भविष्यवाणियों में कुछ भी सार नहीं है। अब सिर्फ सातवें गर्भ का सवाल था। कुछ काल व्यतीत होने पर देवकी ने सिंह, निर्धूम वह्नि आदि सात शुभ स्वप्न देखे, जिसका स्वप्नवेत्ताओं ने फल बताया कि एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न होना चाहिये। यह जान कर तो देवकी की चिन्ता और भी बढ़ गई कि इस सन्तान की रक्षार्थ क्या किया जाय ?

एक दिन देवकी की बाल्यकाल की सखी यशोदा उससे मिलने आई तो देवकी ने अपनी वह चिन्ता उस पर प्रकट की। यह सुन कर यशोदा ने विश्वास दिलाया कि वह घबरावे नहीं, उसे भी गर्भ है, इससे बच्चों की वह अदला-बदली करवा देगी ताकि देवकी की तेजस्वी सन्तान की रक्षा हो सकेगी। प्राचीन-काल की मित्रता भी कितने बलिदान व त्याग के भावों से भरी होती थी कि यशोदा ने अपनी सखी की प्रसन्नता के लिये अपनी प्रसन्नता की बलि चढ़ाना स्वीकार कर लिया। वह जानती थी कि उसकी सन्तान की कंस हत्या कर डालेगा, पर नहीं, मित्रता की पवित्र वेदी पर वह अपने हृदय का टुकड़ा भी चढ़ा सकती थी। आज यह सोचकर हैरानी होती है कि उस आदर्श-मैत्री का शतांश भी इस स्वार्थी-युगमें बच रहा है क्या?

ज्योंही कंस को देवकी के गर्भवती होने की सूचना मिली, उसने देवकी को मथुरा बुलवाया तो वसुदेव भी साथ गये। कंस ने दोनों को बन्दीगृह में डाल दिया।

लेकिन आखिर अन्याय का जीवन कितना लम्बा होता है? कहा है, प्रकृति के यहां देर है, अन्धेर नहीं। प्रकृति भी अन्याय का साथ नहीं देती बल्कि अन्यायी के विनाश के लिये अनुकूल साधन भी जुटाती रहती है।

आज का ही शुभ दिन था। मध्यरात्रि के समय उस बन्दीगृह में ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ या यों कहिये कि उन श्रीकृष्ण के रूप में उस न्याय का जन्म हुआ, जिसे अपने प्रबल

कर्मयोग से अन्याय का विनाश करना था। उस समय रात्रि का मध्यभाग प्रारंभ हुआ था व चन्द्रोदय हो रहा था। चन्द्रोदय के समय उन महापुरुष के जन्म का भी एक रहस्य है। जिस प्रकार जब चारों ओर गहन अंधकार फैला हुआ हो तो चन्द्रमा के उस समय उदय होते ही एक प्रसन्नता की लहर दौड़ जाना स्वाभाविक है कि अंधकार को चीर कर प्रकाश की किरणें खिल पड़ी हैं। उसी प्रकार जिस समय दमन व उत्पीड़न का हाहाकार मचा हुआ था, प्रजा को किसी ऐसे सहायक की आवश्यकता थी जो अन्याय व अत्याचार से लड़ कर उन्हें खत्म कर सके। उस समय श्रीकृष्ण का जन्म होना जगत् के लिये अन्धकार को चीर कर शीतल चन्द्र किरणों के फैल जाने के समान ही अनुभूत हुआ होगा।

ऊपर श्रीकृष्ण जन्म के पूर्ववृत्त को इसीलिये अति विस्तार से बताया गया है ताकि यह समझ में आवे कि अन्याय और अत्याचार इस दुनिया में किस प्रकार अपना जाल फैलाते हैं और उसमें सर्वसाधारण को दबोच कर अपने स्थायित्व के बारे में निश्चिन्त होना चाहते हैं? किन्तु संभवतः उस समय प्रकृति का यह नियम भुला दिया जाता है कि उस अंधकार को चीरने के लिये चन्द्रमा का उदय भी हुआ करता है।

संसार के वर्तमान गतिक्रम भी एक नजर डाली जाय तो दिखाई देता है कि कंस की वृत्ति का साम्राज्य किन्हीं अंशों में आज भी छाया हुआ है। सांसारिक वैभव को प्राप्त करने की

कुटिल होड़-सी लगी हुई है, जिसमें अपनी प्रवृत्तियों के न्याय अन्याय का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। यह सोचना कर्त्तव्य की सीमा के अन्दर ही नहीं समझा जा रहा है कि जो कुछ अर्जन वा प्राप्त किया जाता है, काश, वह न्याय से उपलब्ध हुआ है या अन्याय से ? किसी भी तरह हो—धन प्राप्त करते चले जाना—यह उद्देश्य बना रखा मालूम होता है। इसी का फल है कि भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी आदि अनेक असामाजिक प्रवृत्तियाँ समाज व देश के नैतिक स्तर को निरन्तर नीचे गिरा रही है। पिता-पुत्र और भाई-भाई तक इस दौड़धूप में अपने कर्त्तव्यों को भूल रहे हैं, तो अपने करोड़ों राष्ट्रबन्धुओं के हितों की ओर ध्यान देना तो कठिन प्रतीत हो ही सकता है।

आज यह देखने की जरूरत है कि धन-पिपासा की क्रूर अन्धता में संसार के निर्बल एवं असहाय प्राणी पिसे जा रहे हैं। जिस प्रकार कंस ने अपनी शक्ति का उपयोग पिता की सेवा व जनता की रक्षा में न करके सिर्फ अपने स्वार्थों व अहं की पूर्ति में किया, उसी तरह आज भी समाजके अधिकतर साधन-सम्पन्न लोग व्यवहार करते व उसी में सुखानुभव समझते देखे जाते हैं। फलस्वरूप चारों ओर शोषण एवं उत्पीड़न के कारण त्राहि-त्राहि सी मची हुई लगती है।

इस अवसर पर यह तथ्य मनन किया जाना चाहिये कि अन्यायोपार्जित वैभव स्थायी रहने वाला नहीं है। जबतक आपका पुण्य फलोदय शेष है, आप कुछ करें—उसके दुष्परिणाम

आपके सामने नहीं आते हैं किन्तु इससे यह समझने का प्रयास करना उचित नहीं कहा जा सकता कि आपकी सारी प्रवृत्तियाँ न्यायानुकूल है। प्रकृति में विलम्ब हो जाता है किन्तु उसके नियम का क्रम नहीं टूटता। और तो क्या, चक्रवर्ती, वासुदेव जैसे भी महान् वैभवशाली पुरुष हुए परन्तु उनका वैभव भी यहीं धरा रह गया। मोहम्मद गजनवी ने सत्रह वार भारत भूमि को पदाक्रान्त किया व अगणित वैभव लूटा, किन्तु मरते समय तो वही "सब ठाठ पड़ रह जायगा, जब लाद चलेगा बनजारा" हुअ। कोई भी उसे मृत्यु से न छुड़ा सका। वैभव की भूख आखिर जाकर पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसा डालती है अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि निज के समाज के नैतिक स्तर को ऊपर उठाकर जीवन का सत्य साधनों से सर्वोच्च विकास करने का सत्प्रयास किया जाय।

यह संकेत कर देना समयानुकूल होगा कि आज भी ठीक श्रीकृष्ण के जन्मावसर जैसा ही समय है। चारों ओर कंस की सी प्रवृत्तियां छाई हुई दिखाई देती है और उन प्रवृत्तियों से बहुसंख्यक लोगों में हाहाकार मचा हुआ है। किन्तु उस हाहाकार के बीच जनता में सत्जागरणा का प्रकाश भी होता हुआ दिखाई दे रहा है तथा पीड़ितों में अपने उत्थान के लिये कर्म करने की भावना का संचार होता हुआ लगता है। यही तो श्रीकृष्ण का जन्म है कि पीड़ितों में अन्याय के विरुद्ध लड़ने और उसे मिटा कर सबका समुचित विकास करने की दृढ़ इच्छा उत्पन्न हो।

इस तथ्य को अन्याय का प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष तरीकों से पोषण करने वालों को समझना और अनुभव करना चाहिये।

हां, तो कंस के उस बन्दीगृह में ही श्रीकृष्ण का जन्म हो गया। उस वन्दीगृह में, जहाँ उनके माता-पिता वन्दी थे और बाहर कंस के विश्वस्त शक्तिशाली सिपाही पहरा दे रहे थे। पर प्रकृति तो न्याय का साथ देती है और दूसरी किसी भी शक्ति की परवाह नहीं करती। अचानक आकाश मेघाछन्न हो गया और भयंकर अन्धड़ के साथ उमड़-घुमड़ कर वर्षा शुरू हो गई। प्रकृति की उस भीषणता में वेचारे पहरेदार भी कैसे टिके रह सकते थे? वे अपनी रक्षा के लिये सुरक्षित स्थान में चले गये। इधर वसुदेव वालक को लेकर गोकुल के लिये रवाना हो गये। कुपित प्रकृति, विकट मार्ग और वेगवती यमुना को भी अपने पुरुषार्थ से पार कर वसुदेव गोकुल पहुंच गये। संयोग से उसी समय यशोदा ने एक कन्या को जन्म दिया, जिसे वे लेकर पुनः वन्दीगृह को लौट आये। प्रकृति फिर शान्त हो गई, शायद इसलिये कि उसका कार्य पूरा हो गया। पहरेदार फिर से अपने स्थानों पर आ गये और सब कुछ यथास्थान पाकर निश्चिन्त हो गये। इसी समय वन्दीगृह में से बाल-रुदन सुनकर उन्होंने कंस को कन्या-जन्म के समाचार पहुंचा दिये। कंस ऐसी सूचना पाकर प्रसन्न हुआ कि भविष्यवाणियाँ थोथी निकली। उसने कन्या की सिर्फ एक अंगुली कटवा कर छोड़ देने का आदेश

दिया कि यह सातवीं सन्तान बिचारी उसका क्या विगाड़ सकेगी।

इधर यशोदा के घर श्रीकृष्ण द्वितीया के चन्द्र की तरह वढ़ने लगे। कितनी घोर विपदाओं में उनका जन्म हुआ और तव से ही उनका जीवन कर्मयोग का जैसे प्रतीक सा वनने लगा। राजपुत्र होकर भी प्रारंभ से गोकुल में जो उनका दैनिक जीवन था, वह पूरी सादगी व श्रम से ओतप्रोत था। उनकी सादी वेशभूषा के लिये कवि विहारी ने कहा है—

मोर मुकुट, कटि काछनी, गल गुंजन की माल।
यह वालक मौ मन वसो, सदा विहारी लाल॥

और आज भक्त लोग श्रीकृष्ण की मूर्तियों को सोने और हीरे-मोतियों से जड़कर भक्ति का गौरव अनुभव करते हैं। कीमती वेशभूषा उन्हें पहिना कर शायद यह दिखाना चाहते हैं कि कृष्ण वड़े वैभवशाली थे। किन्तु वे यह क्यों भूल जाते हैं कि कृष्ण कठिन कर्मयोगी भी थे। उनका विश्वास था—"कर्मण्ये वाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन्"। कर्मण्यता की भूमिका पर ही व्यक्ति, समाज वा राष्ट्र का उत्थान सम्पादित किया जा सकता है। वैभव और विलास तो पतन के कारण वनते है क्योंकि विलासिता का दूसरा नाम निकम्मापन भी है। विलासी कायर होता है, वह विपदाओं से लड़ नहीं सकता और अपनी हीन आसक्तियों से ऊपर नहीं उठ सकता। कृष्ण ने तो अनासक्त

योग का वखान किया है। वे तो स्वयं जीवन-क्षेत्र के महान् योद्धा थे। अर्जुन की कायरता देखकर वे गर्जना कर उठे—

'क्लैव्यं मा स्मः गमः पार्थ, नैतत्वय्युपपद्यते !

अतः श्रीकृष्ण की वास्तविक भक्ति यह पाठ पढ़ाती है कि जीवन में वह कर्मठ शूरता उतरनी चाहिये जो उच्चतम पद की ओर अग्रसर करा सके।

श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र से कई शिक्षाएँ ग्रहण की जा सकती है, अगर आप वास्तविक रूप से उनकी जयन्ती मनावें। आज आपको कोई गाएँ चराने के लिये कहे तो आप उसे अपना अपमान समझेंगे कि गद्दी-तकियों पर बैठकर लाखों का व्यवसाय करने वाले हम ऐसा छोटा कार्य करें ? किन्तु कृष्ण का जीवन क्या कहता है कि कोई काम कभी छोटा नहीं होता, छोटे होते हैं मनुष्य के दिल और दिमाग कि वह काम के असल महत्त्व को समझ नहीं पाता। वड़े आदमी प्रत्येक कार्य को अपना कर्त्तव्य समझ कर करते हैं। श्रीकृष्ण का नाम गोपाल भी तो है न ? वहुत से भाई 'जय गोपाल' करके अभिवादन करते हैं पर समझने की चीज है कि यह किनकी 'जय' क्यों वोली जाती है ? क्या सिर्फ शाब्दिक जय बोलकर ही कार्य की समाप्ति हो जाती है ?

आज भारत में गोरक्षा और पशुरक्षा भी एक भारी समस्या है। लाखों पशु तो केवल मांसार्थ काटे जाते वताते हैं और फिर चर्वी, चमड़े व अन्य पदार्थों के लिये उनका वध होता है सो

अलग। ऐसी हालत में आपके 'जय गोपाल' की कितनी कीमत रहती है? यह सब इस कारण हो रहा है कि लोग अपने कर्त्तव्य से विमुख होते जा रहे हैं। गोवध व पशुवध का मूल कारण एक दृष्टि से देखा जाय तो वधकर्त्ता से पहले वे गोभक्त हैं, जो मुंह की भक्ति करते हैं किन्तु मोल का दूध, दही, घी खाते हैं और जीवित पशुओं के चमड़े के पदार्थ एवं चर्बी के वस्त्रों का उपयोग करते हैं। ऐसे पदार्थोंका उपयोग त्यागा जाय तो भी काफी समस्या हल हो सकती है? गोपाल की जय तभी होगी जब गौ की—पशु की जय होगी।

श्रीकृष्ण का दूसरा नाम हरि भी है—"जनानां दुखान् हर-तीति हरिः"। जब २ संसार में अत्याचार, दुराचार, अनैतिकता आदि का प्रसार होता है तब २ प्रकृति का नियम सा है कि महान् आत्माएँ जन्म लेती हैं जो अपने जीवन के ज्वलन्त उदा-हरण से जगत् को सद्प्रवृत्ति के लिये प्रेरित करती हुई समस्त प्राणियों के बीच शान्ति व समानता की स्थापना करती हैं।

कृष्ण चरित्र का आध्यात्मिक रूपक इस प्रकार लिया जा सकता है कि आत्मा को भारत का रूपक मानें और काम, क्रोध, तृष्णा, मद, मोह, लोभ आदि को शिशुपाल, काली नाग, पूतना, जरासंध, दुर्योधन आदि के रूपक। जिस प्रकार शिशु-पाल रुक्मणी का हरण करना चाहता था, उसी प्रकार दुष्कर्मों का सरदार 'काम' आत्मा की ज्ञानादि सम्पत्ति रूपी रुक्मणी को हर लेना चाहता है।

क्रोधरूपी काली नाग अपने तीव्र विषदन्त से सरल प्राणियों में कटुता भर रहा है व संसार में अनेक अनर्थ करवा रहा है। तृष्णा रूपी पूतना राक्षसी दूध पिला कर आत्मबल को जैसे मार देना चाहती है। लोग संयम, नियम, नीति से विमुख होकर ऐश्वर्य बढ़ाने की प्रतिद्वन्द्विता में लगे हैं। भ्रष्टाचार की महामारी सी फैली हुई है।

अभिमान रूपी कंस सारे विश्व को ग्रस रहा है। लोग धन या सत्ता बल पा जाने पर अपने आपको भूल स्वेच्छाचारिता की ओर मुड़ जाते हैं एवं निर्बलों के अधिकारों को हड़पने व उनका शोषण करने में आनन्दानुभव करते हैं। मोहरूपी जरा-संध आज अन्याय का कारणभूत हो रहा है क्योंकि मोह में मनुष्य की एकान्त बुद्धि हो जाती है और वह सत्यासत्य के सद्विवेक से विमुख होता चला जाता है। लोभ रूपी दुर्योधन. साधनों को केन्द्रीभूत कर सच्चे हकदारों को भी 'सुई की नोक के बराबर भूमि' देने को तैयार नहीं। लोभ को शास्त्रों में काल कहा है और यह पाप का बाप भी कहा जाता है क्योंकि इसीके वशीभूत होकर मनुष्य अत्यधिक स्वार्थी और हीनस्वभावी हो जाता है।

आज ये सारी कुटिल मनोवृत्तियाँ समाज में खुलकर खेलती हुई देखी जाती है और ऐसे जटिल समय में जन्माष्टमी मनाने का सच्चा महत्त्व यही हो सकता है कि श्रीकृष्ण का सत्य स्वरूप हृदय में जगाया जाय और उनकी तरह इन कुविचारों एवं

असद् प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने की अमिट शक्ति पैदा की जाय।

श्रीकृष्ण के जीवन का सबसे आदर्श पाठ है—उनका कर्म-योग—सत्पुरुषार्थ। मनुष्य ही अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। जीवन के इस विशाल क्षेत्र में सद्कर्म करते जाइये निरपेक्ष और निःस्वार्थ होकर तो लौकिक व आत्मिक उत्थानोंकी मंजिल दूर नहीं रहेगी।

जन्माष्टमी के समारोह की सच्चाई रूढ़िगत आडम्बरों में नहीं, बल्कि श्रीकृष्ण के जीवन की पवित्र साधना में अपने आपको तन्मय बना लेने में है। गीता का सन्देश स्वयं श्रीकृष्ण का जीवन सन्देश है और इसी सन्देश को आज के दिन सब को सुनना और समझना चाहिये तभी किसी प्रकार की सार्थकता हो सकती है।

बालिकाओं का शिक्षण

"मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी........
कुंभ पिता परभावती मैया, तिनकी कुंवारी
मांनी कूख कंदरा, माही उपना अवतारी...

यह तीर्थंकर मल्लिनाथ की प्रार्थना है, उन मल्लिनाथ भगवान् की, जिन्होंने नारी के रूप में उच्चतम आत्म-विकास सम्पादित किया और यह आदर्श प्रस्तुत किया कि पुरुष और नारी में ऊँचा से ऊँचा विकास प्राप्त करने की समान शक्ति रही हुई है विकास के क्षेत्र में अगर आत्मा दृढ़तापूर्वक अपनी समस्त शक्तियाँ नियोजित कर दे तो कोई भी भेद—चाहे वह राष्ट्रीय लिंगीय, जातीय वा अन्य हो—उसमें बाधक नहीं बन सकता

आज आप बालिकाओं की इसी विकास के प्रति जिज्ञासा वृत्ति मुझे यहां खींच लाई है। आप रोज अपनी अध्यापिकाओं से शिक्षण ग्रहण करती हैं—किन्तु मुझसे भी कुछ उपदेश श्रवण करें—ऐसी इच्छा आपने मुझे जतलाई।

मैं आपसे बतलाऊँ कि जैन-दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने जीवन-विकास का भाग्य-विधाता होता है। उसका ही सद्गुणमय जीवन, त्याग व पराक्रम उच्चतम विकास के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। सरल शब्दों में जीवन-

विकास की इस दौड़ में सभी हिस्सा ले सकते हैं, आत्म-विकास कर सकते हैं और अपनी दौड़ने की सत्पुरुषार्थ वृत्ति के आधार पर प्रतियोगिता में जीत हासिल कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में विकास के लिये जो प्रयास करने की आवश्यकता होती है, वह यह कि छिपी हुई शक्ति को आत्म-विकास की रचनात्मक कर्मठता के तेज से प्रदीप्त व प्रकटित की जाय।

और इस शक्ति को तेजवती वनाने का प्रबल साधन है—संस्कारयुक्त सद्शिक्षा। शिक्षा या विद्या की प्राचीन परिभाषा है—

"सा विद्या या विमुक्तये"—

अर्थात् वही शिक्षण वास्तविक विद्या है, जो जीवन को विकृति के सारे वन्धनों से मुक्त कर दे। यही शिक्षा का सच्चा स्वरूप है। केवल अक्षर ज्ञान कर लेने और पुस्तकीय वृत्ति को पनपा लेनेमें ही शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। पुस्तकीय शिक्षा तो सच्ची शिक्षा की साधिकामात्र हो सकती है क्योंकि विवेक पूर्वक प्राप्त शिक्षा मस्तिष्क को सही दिशा में सोचने के लिये समर्थ व योग्य वनाती है। इस प्राप्त शिक्षा द्वारा तदनन्तर मस्तिष्क एवं हृदय को परिष्कृत तथा विकसित करना होता है अतः शिक्षा के साथ संस्कार-निर्माण के विपय में सावधान रहना अति आवश्यक है।

वर्तमान समय में ऐसी संस्कारयुक्त सद्शिक्षा का सव ओर प्रसार हो—ऐसे प्रयास की जरूरत है। यहां मैं आप वालि-

काओं के शिक्षण के बारे में कुछ कह रहा हूं। यह माननीय प्रश्न है कि बालकों और बालिकाओं के शिक्षण में किसे प्राथमिकता दी जाय ? आज बालकों के शिक्षण का तो जैसा-तैसा भी कुछ प्रबन्ध है लेकिन बालिकाओं के शिक्षण के सम्बन्ध में प्रबन्ध दरअसल असन्तोषजनक है। जबकि एक दृष्टि से सोचा जाय तो बालकों से भी बालिकाओं का शिक्षण विशेष महत्त्व रखता है।

आज जैसी समाज की परिपाटी है, बालिकाएँ जिस घर में पैदा होती है, वयस्क होने पर उन्हें उस घर को छोड़कर दूसरे घर में—अपने पति के घर में प्रवेश करना पड़ता है। उस घर में अपना स्थान बनाकर समूचा जीवन वहीं व्यतीत करना पड़ता है। कन्या, भार्या और माता के रूप में आप लोगों के अपने जीवन में विभिन्न कर्त्तव्य होते हैं और एक सन्नारी का कर्त्तव्य होता है कि वह उन विभिन्न कर्त्तव्यों को विवेक व सद्विचार के आधार पर निभाती रहे।

यहाँ पुरुष और नारी का उत्तरदायित्व भार-विशेष प्रतीत होगा। पुरुष तो जिस घर में पैदा होता है, वहीं रहता है और उस दृष्टि से उसे नये वातावरण में अपना स्थान बनाने की जिम्मेदारी नहीं निभानी पड़ती, जो कि एक नारी को करना पड़ता है। दूसरे, जब तक माँ के कर्त्तव्यों का बोझ उस पर आता है तो वह उत्तरदायित्त्व और भी महान् होता है। नई जिन्दगियों को ने औघड़ बनाने का उत्तरदायित्व न स्वयं उस

घर के लिये वल्कि समूचे समाज व राष्ट्र के लिये भी कम महत्त्व का उत्तरदायित्व नहीं होता।

इसलिये यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एक वालक के सुशिक्षण से भी एक वालिका का सुशिक्षण विशेप महत्त्व रखता है—प्राथमिकता का अधिकारी होता है। एक वालिका सुशिक्षित होकर न केवल अपने ही जीवन का नवनिर्माण करेगी, वल्कि अपनी सन्तान को सुसंस्कारित वनायगी, अपने घर में एक नये स्वस्थ वातावरण की सृष्टि करेगी। एक माता हजार शिक्षकों से भी अधिक प्रभावशाली होती है। शिशु की सारी कल्पनाओं, सारे संस्कारों और सारी अनुभूतियों का स्रोत उसकी माता का जीवन होता है। संस्कारित माताओं का देश होनहारों का देश होता है।

तो आपका इस समय का शिक्षण सारे जीवन की आधार-शिला का निर्माण कर रहा है, क्योंकि वाल्यावस्था वह समय है जव वालक या वालिका का हृदय उस कच्ची गीली मिट्टी की तरह होता है जिसे कुशल कुंभकार विभिन्न आकर्पक रूपों में वदल डालता है। अध्यापिकाओं वा अध्यापकों का कार्य उस कुंभकार जैसा है, जिनके द्वारा आपको अच्छे रूपों में घड़ने का प्रयास किये जाते हैं। इस समय जैसे भी संस्कार हृदय पर अपनी छाप डाल देते हैं, वह छाप जीवन भर नहीं छूटती और इस समय की निर्मित मनोवृत्तियाँ ही आगे के विकास-पथ का निर्देश करती रहती है।

आप बालिकाओं के हृदय को इस समय सफेद काच की शीशी की उपमा दी जा सकती है। सफेद काच की शीशी की तरह आपके हृदय इस समय स्वच्छ है, सरल हैं और उनमें किसी तरह का विशिष्ट प्रभाव नहीं होता है। अब कल्पना कीजिये कि तीन शीशीयाँ हों—एक में इत्र भरा हुआ हो, दूसरी में शुद्ध जल और तीसरी शीशी में गटर का बदबू देता हुआ पानी। शीशीयाँ एक सी है किन्तु तीनों अलग २ पदार्थों के संयोग से अलग २ गुण वाली बन जाती है। इत्रवाली शीशी स्वयं सुन्दर दीखती हुई अपने दूर २ तक के वातावरण को भी सुवासित कर देती है। शुद्ध जल वाली शीशी दूसरों को आकृष्ट नहीं कर सकती किन्तु अपने आप में तो पवित्र अवश्य रहती है लेकिन तीसरी शीशी अपनी दुर्गन्धमय अशुद्धता से सारे वातावरण को भी दूपित बना देती है।

अब मैं आपसे पूछूं कि आप अपने खाली शीशी के समान हृदय में इन तीनों में से क्या भरना चाहती हैं? क्योंकि जैसा भी पदार्थ उसमें भरो, उसे भरने का समय यही है। इस समय अपने चरित्र एवं संस्कार निर्माण की दृष्टिसे आप अपने शिक्षण-काल में पग-पग पर सतर्क नहीं रहती हैं तो सारे जीवन के निर्माण-कार्य में अधूरापन रह जायगा, जो भविष्य में विकृति की दुर्गन्धभरी सड़ान बनकर आपको अत्यन्त ही दुःखी बना सकता है।

इसलिये इस शिक्षण-काल में आप पर अपना समूचा जीवन

बनाने की जिम्मेदारी होती है। जीवन में महत्त्वाकांक्षी होना भी किसी अपेक्षा से एक बहुत बड़ा सद्गुण है। आपमें से प्रत्येक बालिका यदि अपने निश्चय को दृढ़ और सुव्यवस्थित बना ले तो ऊँचा से ऊँचा विकास कर सकती हैं। ऊपर जो शीशियों का उदाहरण दिया गया है, उसके अनुसार आपका जीवन तो इत्र की शीशी की तरह होना चाहिये ताकि आपकी सुविद्या की सुगन्ध से सारे घर व समाज का वातावरण मधुरता एवं सुन्दरता की ओर उन्मुख हो सके। अगर आपमें ऐसा प्रभाव पैदा नहीं हुआ तो आपका नारीत्व भी शिष्टता एवं सौजन्य में नहीं ढल सकेगा, आपका मातृत्व का कर्त्तव्य अधूरा रहेगा और एक तरह से समूचे जीवन में चरित्र की जो कान्ति झलकनी चाहिये, वह उतनी आभा के साथ झलक नहीं सकेगी। यही अवस्था है, जब कि आप एक सफल गृहिणी और सफल माता के कर्त्तव्यों का भलीभांति ज्ञान करके निज को उसके लिये पूर्ण योग्य बनाने की ओर मजबूत कदम बढ़ा सकती हैं।

यह तथ्य आपको समझ लेना चाहिये कि आज का सामाजिक वातावरण जीवन-निर्माण के अधिक अनुकूल नहीं और उस पर पाश्चात्य सभ्यता का कुप्रभाव आज की शिक्षा पद्धति को भी घेरे हुए है अतः इस परिस्थिति में जीवन के सद्विकास के प्रयत्न और भी अधिक कठिन होंगे, किन्तु दृढ़ निश्चय और अटल कर्त्तव्य भावना के समक्ष कोई भी शक्ति नहीं जो सफ-

लता को रोक सके। आपको गटर के गन्दे पानी वाली शीशी का अनुकरण नहीं करना है कि जिससे जीवन को दूषित बना कर दुःखी बना सके और अपने साथ दूसरों को भी ले डूबें। इसीलिये मैं कहता हूं कि वालकों से भी वालिकाओंकी सुशिक्षा अधिक आवश्यक व महत्त्वपूर्ण है।

श्रेष्ठ शिक्षा से पवित्र आचरण के ढांचे में ढलने वाली वालिकाएँ घर, समाज और राष्ट्र को स्वर्ग बना देती है। यह शिक्षा केवल शाब्दिक जगत् में ही चक्कर काटने वाली नहीं, वल्कि जीवन के मूलभूत अनुभवों एवं सिद्धान्तों पर आधारित होती है। जीवन के विशिष्ट उतार-चढ़ाव इसमें चित्रित किये जाते हैं और एक क्रियात्मक तरीके से शिक्षार्थी के हृदय में ऐसे सत्साहस की उत्पत्ति की जाती है जिसे लेकर वह जीवन के वीहड़ वन को सजगता, सरलता एवं सहिष्णुता से पार कर सके। उस शिक्षा के अप्रतिम प्रभाव से वह एक ऐसे मार्ग की रचना कर सके जिस पर पिछली पीढ़ियाँ भी चल कर अपने विकास पथ को सुरक्षित बना लें। इसी साधना द्वारा महा-पुरुपत्व का निर्माण होता है, जिस महापुरुषत्व की जड़ें ही इसी वाल्यकाल में लगी हुई होती हैं।

आप वालिकाओं को अपने जीवन के विभिन्न विभागों में विभिन्न कर्त्तव्य पूरे करने होंगे अतः आपके लिये विशेप प्रकार की निपुणता की आवश्यकता है ताकि नारी जीवन और मातृ

बनाने की जिम्मेदारी होती है। जीवन में महत्त्वाकांक्षी होना भी किसी अपेक्षा से एक बहुत बड़ा सद्‌गुण है। आपमें से प्रत्येक बालिका यदि अपने निश्चय को दृढ़ और सुव्यवस्थित बना ले तो ऊँचा से ऊँचा विकास कर सकती हैं। ऊपर जो शीशियों का उदाहरण दिया गया है, उसके अनुसार आपका जीवन तो इत्र की शीशी की तरह होना चाहिये ताकि आपकी सुविद्या की सुगन्ध से सारे घर व समाज का वातावरण मधुरता एवं सुन्दरता की ओर उन्मुख हो सके। अगर आपमें ऐसा प्रभाव पैदा नहीं हुआ तो आपका नारीत्व भी शिष्टता एवं सौजन्य में नहीं ढल सकेगा, आपका मातृत्व का कर्त्तव्य अधूरा रहेगा और एक तरह से समूचे जीवन में चरित्र की जो कान्ति झलकनी चाहिये, वह उतनी आभा के साथ झलक नहीं सकेगी। यही अवस्था है, जब कि आप एक सफल गृहिणी और सफल माता के कर्त्तव्यों का भलीभांति ज्ञान करके निज को उसके लिये पूर्ण योग्य बनाने की ओर मजबूत कदम बढ़ा सकती हैं।

यह तथ्य आपको समझ लेना चाहिये कि आज का सामाजिक वातावरण जीवन-निर्माण के अधिक अनुकूल नहीं और उस पर पाश्चात्य सभ्यता का कुप्रभाव आज की शिक्षा पद्धति को भी घेरे हुए है अतः इस परिस्थिति में जीवन के सद्‌विकास के प्रयत्न और भी अधिक कठिन होंगे, किन्तु दृढ़ निश्चय और अटल कर्त्तव्य भावना के समक्ष कोई भी शक्ति नहीं जो सफ-

लता को रोक सके। आपको गटर के गन्दे पानी वाली शीशी का अनुकरण नहीं करना है कि जिससे जीवन को दूषित बना कर दुःखी बना सके और अपने साथ दूसरों को भी ले डूबें। इसीलिये मैं कहता हूं कि बालकों से भी बालिकाओं की सुशिक्षा अधिक आवश्यक व महत्त्वपूर्ण है।

श्रेष्ठ शिक्षा से पवित्र आचरण के ढांचे में ढलने वाली बालिकाएँ घर, समाज और राष्ट्र को स्वर्ग बना देती है। यह शिक्षा केवल शाब्दिक जगत् में ही चक्कर काटने वाली नहीं, बल्कि जीवन के मूलभूत अनुभवों एवं सिद्धान्तों पर आधारित होती है। जीवन के विशिष्ट उतार-चढ़ाव इसमें चित्रित किये जाते हैं और एक क्रियात्मक तरीके से शिक्षार्थी के हृदय में ऐसे सत्साहस की उत्पत्ति की जाती है जिसे लेकर वह जीवन के बीहड़ बन को सजगता, सरलता एवं सहिष्णुता से पार कर सके। उस शिक्षा के अप्रतिम प्रभाव से वह एक ऐसे मार्ग की रचना कर सके जिस पर पिछली पीढ़ियाँ भी चल कर अपने विकास पथ को सुरक्षित बना लें। इसी साधना द्वारा महा-पुरुषत्व का निर्माण होता है, जिस महापुरुषत्व की जड़ें ही इसी बाल्यकाल में लगी हुई होती हैं।

आप बालिकाओं को अपने जीवन के विभिन्न विभागों में विभिन्न कर्त्तव्य पूरे करने होंगे अतः आपके लिये विशेष प्रकार की निपुणता की आवश्यकता है ताकि नारी जीवन और मातृ

जीवन तथा दुर्भाग्य में वदा हो तो विधवा जीवन भी पवित्रता एवं शुद्धाचारिता से व्यतीत हो सके।

भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह के समय कन्या को अपना जन्मगृह, अपने माता-पिता व सम्बन्धियों आदि को त्याग कर एक नये घर, एक नये कुटुम्ब में प्रवेश करना होता है। विवेक और ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था में नये घर में अपनत्व पैदा करना—इसमें भारतीय नारी का आदर्श रहा हुआ है। अतः प्रारंभ में कन्याएँ ऐसे शिष्ट और नम्र संस्कारों की छाप अपने हृदय पर डालें कि जो भी उनके सम्पर्क में आवें, उनके सुष्ठु व्यवहार से प्रभावित हुए विना न रहे। आचार और विचारों की शुद्धता आधुनिक युग में भी भारतीय नारी की प्राचीन प्रतिष्ठा स्थापित करवा सकती है।

प्राचीनकाल में भारत के सामाजिक, धार्मिक व राष्ट्रीय जीवन में नारी के योग्य नारी का एक सम्मानभरा समुचित स्थान था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अद्‌भुत शौर्य व तेज प्रकट करने वाली नारियों के जीवन-चरित्र आज भी इतिहास के पृष्ठों पर जैसे स्वर्णाक्षरों से अंकित हैं। आप ही की वे वहिनें चारित्र्य-रक्षा के लिये विपदाओं से लड़ी, मौत से खेली—राष्ट्र-रक्षा के लिये खड्ग लेकर युद्धस्थल पर गई और उन्होंने अन्यायियों से डट कर मुकाविला किया। नारी ने कई स्थानों पर अपने अनुरूप सफल नेतृत्व किया।

आज उसी विगत गौरव को फिरसे जगाने की जिम्मेदारी

आपके कंधों पर है। नारी फिरसे आत्म-विकार द्वारा समाज व धर्म का पूर्ण उपयोगी अंग बने—ऐसी दिशा में आपको नव-सत्प्रयत्न करने हैं। वर्तमान समाज की विकृति को दूर हटाने में आप बालिकाएँ महत्त्व का रचनात्मक सत्कार्य कर सकती हैं। पुरुष के प्रभाव से नारी का प्रभाव क्षेत्र एक अपेक्षा से अवश्य ही विशाल होता है अतः आपकी आज की सुशिक्षा और सुसंस्कारिता समाज एवं धर्म के लिये अधिक उपयोगी तथा लाभदायक सिद्ध हो सकेगी। आपके जीवन की सुदृढ़ सत्-कर्मण्यता गृह, समाज और देश में राम-राज्य की सुन्दर कल्पना को साकार बना सकती है और आप लोगों का जीवन विकास सही माने में धार्मिक सदाचरण की भी प्रतिष्ठा कर सकेगा।

समाज में नारी का आज जो निम्न स्थान बन गया है और उसके व्यक्तित्व को जिस तरह निराहत किया जाता है, उसके पीछे एक विशेष कारण भी है और वह है आर्थिक दृष्टि से नारी का सर्वथा पुरुष पर आश्रित होना। यह इस प्रकार की आर्थिक परतंत्रता नारी को घर की गुड़िया बनाये रखती है और उसकी बहुमुखी आत्मिक शक्तियों को विकसित होने से रोकती है। आज समाज में अपने लिये समुचित स्थान का निर्माण करने हेतु और देश के साथ धर्म की सम्मानपूर्ण सेवा करने में एवं धर्म-क्षेत्र को प्रसारित करने में नारी समाज को हिचकिचाने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल इहलौकिक घर की चार-दिवारी में बन्द रहने से समाज, राष्ट्र व धर्म को नारी का

जीवन तथा दुर्भाग्य में बदा हो तो विधवा जीवन भी पवित्रता एवं शुद्धाचारिता से व्यतीत हो सके।

भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह के समय कन्या को अपना जन्मगृह, अपने माता-पिता व सम्बन्धियों आदि को त्याग कर एक नये घर, एक नये कुटुम्ब में प्रवेश करना होता है। विवेक और ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था में नये घर में अपनत्व पैदा करना—इसमें भारतीय नारी का आदर्श रहा हुआ है। अतः प्रारंभ में कन्याएँ ऐसे शिष्ट और नम्र संस्कारों की छाप अपने हृदय पर डालें कि जो भी उनके सम्पर्क में आवें, उनके सुष्ठु व्यवहार से प्रभावित हुए विना न रहे। आचार और विचारों की शुद्धता आधुनिक युग में भी भारतीय नारी की प्राचीन प्रतिष्ठा स्थापित करवा सकती है।

प्राचीनकाल में भारत के सामाजिक, धार्मिक व राष्ट्रीय जीवन में नारी के योग्य नारी का एक सम्मानभरा समुचित स्थान था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अद्भुत शौर्य व तेज प्रकट करने वाली नारियों के जीवन-चरित्र आज भी इतिहास के पृष्ठों पर जैसे स्वर्णाक्षरों से अंकित हैं। आप ही की वे वहिनें चारित्र्य-रक्षा के लिये विपदाओं से लड़ी, मौत से खेली—राष्ट्र-रक्षा के लिये खड्ग लेकर युद्धस्थल पर गई और उन्होंने अन्यायियों से डट कर मुकाबिला किया। नारी ने कई स्थानों पर अपने अनुरूप सफल नेतृत्व किया।

आज उसी विगत गौरव को फिरसे जगाने की जिम्मेदारी

आपके कंधों पर है। नारी फिरसे आत्म-विकार द्वारा समाज व धर्म का पूर्ण उपयोगी अंग बने—ऐसी दिशा में आपको नव-सत्प्रयत्न करने हैं। वर्तमान समाज की विकृति को दूर हटाने में आप वालिकाएँ महत्त्व का रचनात्मक सत्कार्य कर सकती हैं। पुरुष के प्रभाव से नारी का प्रभाव क्षेत्र एक अपेक्षा से अवश्य ही विशाल होता है अतः आपकी आज की सुशिक्षा और सुसंस्कारिता समाज एवं धर्म के लिये अधिक उपयोगी तथा लाभदायक सिद्ध हो सकेगी। आपके जीवन की सुदृढ़ सत्-कर्मण्यता गृह, समाज और देश में राम-राज्य की सुन्दर कल्पना को साकार वना सकती है और आप लोगों का जीवन विकास सही माने में धार्मिक सदाचरण की भी प्रतिष्ठा कर सकेगा।

समाज में नारी का आज जो निम्न स्थान वन गया है और उसके व्यक्तित्व को जिस तरह निरादृत किया जाता है, उसके पीछे एक विशेप कारण भी है और वह है आर्थिक दृष्टि से नारी का सर्वथा पुरुष पर आश्रित होना। यह इस प्रकार की आर्थिक परतंत्रता नारी को घर की गुड़िया वनाये रखती है और उसकी वहुमुखी आत्मिक शक्तियों को विकसित होने से रोकती है। आज समाज में अपने लिये समुचित स्थान का निर्माण करने हेतु और देश के साथ धर्म की सम्मानपूर्ण सेवा करने में एवं धर्म-क्षेत्र को प्रसारित करने में नारी समाज को हिचकिचाने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल इहलौकिक घर की चार-दिवारी में वन्द रहने से समाज, राष्ट्र व धर्म को नारी का

सिवाय आप और कुछ नहीं कर सकती। आपकी सुन्दरता वढ़ेगी जब आप धार्मिक एवं जीवन विकास के सही लक्ष्य को स्थिर करके सरल, सत्य एवं सत् स्नेहमय भावनाओं से आप्लावित होंगी, आपके चेहरों पर एक प्राकृतिक आभा चमक उठेगी और आपके हृदयों में सेवा एवं सत्संस्कारों का तरल प्रकाश छिटकता होगा।

आप इस शिक्षणकाल में अपनी आवश्यकताएँ सीमित व सादी रखें ताकि विकृतिभरी कमजोरियाँ आप पर आक्रमण न कर सके। अपने संयमी जीवन को हर तरह से पुष्ट बनाने की ओर आपका ध्यान जाने ताकि आप अपने सच्चे जीवन के विभिन्न बोझिले उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक निवाह कर देश, समाज व धर्म का गौरव बढ़ा सकें।

सब के लिये समान सुख

जेय कंते पिये भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वई।
साहीणे चवईभोए, सेहु चाइत्ति वुच्चई॥

आज साधारण जन के समक्ष बड़ी विकट समस्या है कि उसका जीवन कैसे हो? किस प्रकार आवश्यक जीवनोपयोगी पदार्थों को सरलता से उपलब्ध कर वह अपने जीवन को शान्तिमय, नीतिमय और धर्ममय बना सके? यही नहीं, सारी दुनिया के सामने यह प्रश्न लटक रहा है कि चारों ओर उठ रहे दुःख के धुएं को साफ कैसे किया जा सकता है? गरीब अपनी वास्तविक दीन स्थिति के कारण दुःखी है ही, किन्तु सम्पन्न व्यक्ति भी लाभ और तृष्णा की दौड़ में सन्तप्त सा दिखाई देता है। वस्तुस्थिति यह है कि आज अशान्ति एवं असन्तोष के काले बादल चारों ओर मंडरा रहे हैं, जिन्होंने जीवन के सत्य सुखरूपी सूर्य को पूर्णतया ढक लिया है।

किन्तु वर्तमान स्थिति का केवल अध्ययन करने से ही कुछ नहीं होने वाला है। इसकी जानकारी करनी होगी कि इस स्थिति की पृष्ठभूमि में कौनसे ऐसे कारण हैं, जिनकी परिणति जीवन को दुःखमय बना रही है? यह भी देखना होगा कि उन

कारणों को दूर करके सच्चे लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का कौन सा रास्ता है ?

आज मनुष्य को अपने दुःख और पतन के कारण ढूंढने ही होंगे, क्योंकि अपने हिताहित से बेभान रहने की भी एक सीमा होती है और उससे आगे निकल जाने पर तो पतन से निकल आने की सभी संभावनाएँ शिथिल हो जाती है। आज संसार की गति भी तेजी से उसी सीमा के समीप सरकती जा रही है। और यदि इस समय सम्यक् चेतना और सजगता का प्रसार नहीं किया गया तो संसार महापुरुषों की प्रदत्त विचारनिधि को खोकर असभ्यता और असंस्कृति के अन्धकार में भटकता ही रह जायगा।

दुःख के मूल कारणों को समझ न सकने की एक वजह भी है और वह यह कि दृष्टि पैनी नहीं है। मान लीजिये, शरीर में स्थान-स्थान पर व्रण हो रहे हैं और उनसे अपार पीड़ा है तो विवेकहीन वैद्य उन व्रणों पर ही मरहम पट्टी करने के सिवाय और कुछ नहीं करेगा, किन्तु विवेकशील वैध वाह्योपचार से भी रक्तशुद्धि की आन्तरिक चिकित्सा को अधिक महत्त्व देगा। क्योंकि वह जानता है कि वाह्योपचार में तो केवल यही होगा कि एक स्थान पर एक व्रण ठीक हो गया तो दूसरे स्थान पर एक और उभर आवेगा और यह क्रम मिट नहीं सकता, जब तक व्रणों का उत्पादक मूल स्त्रोत रक्त का शुद्धिकरण नहीं हो

जाता। संसार के वर्तमान दुःख की भी एक विवेकशील वैद्य की तरह मीमांसा की जानी चाहिये।

जीवन में सबको सुख की चाह रहती है और सबके प्रयत्न भी इसी दिशा में प्रगमनशील होना चाहते हैं। सुख वास्तव में ध्येय होना चाहिये किन्तु सुख के स्वरूप का निर्धारण भिन्न २ हो जाने से साधनों का अन्तर हो जाता है। कई प्राणी सुखाभास में अधिकतर व्यामोहित होकर अपने जीवन-पथको गलत दिशा में मोड़ लेते हैं।

तो प्रश्न उठता है कि आखिर सुख क्या है? इसका उत्तर अति गंभीरता से विचारने का विषय है। सुख का निवास किसी पदार्थ विशेष वा स्थिति विशेष में नहीं है। वह तो अन्तर की प्रगाढ़ अनुभूति में ही प्राप्त किया जा सकता है। वाह्य पदार्थों के समागम से उपलब्ध होने वाला सुख केवल सुखाभास है तथा वह भी क्षणिक है। वह तो उस चमकते हुए पीतल के समान है, जिसे सोना समझ कर कोई भी अपनी जान जोखिम में डाल देता है। वर्तमान युग में दुनिया की दौड़ वाह्य पदार्थों में ही सुख खोजने में हो रही है और उसका परिणाम यह प्रतीत होता है कि चारों ओर दुःख का क्रन्दन सुनाई पड़ता सा लगता है।

एक समय था जब "सादा जीवन, उच्च विचार" की स्थिति को वड़ा महत्त्व मिला हुआ था। सरलता और सादगी सबको प्रिय होने से सबके हृदयों में सुखानुभूति की प्रतीति थी। आज

बाहरी चमक ने वास्तविक चमक को छिपा दिया है। विमुग्ध मानव भौतिकवादी कटघरे में पड़ कर अपने जीवन-विकास को अवरुद्ध कर रहा है। जीवन निर्वाह के आवश्यक पदार्थों को छोड़ कर भी न जाने क्यों, विलासिता की ओर लोगों की इतनी अधिक रुचि हो गई है ? भारत संस्कृति प्रधान देश होते हुए भी पाश्चात्य संस्कृति के प्रवाह में वह रहा है और अपनी उस प्राचीन निधि को भूल रहा है जो महान् व्यक्तियों की साधना संचित थाती है। शहरी जीवन में तो विलासिता और फैशन ने इतना विषैला वातावरण बन गया है कि वहाँ के जन-मानस में सद्वृत्तियाँ और प्रेमानुभूतियाँ तो जैसे विलुप्त हो रही है। एक शहरी अपने पड़ोसी को जानता तक नहीं, फिर परस्पर सहानुभूति का तो सवाल उठता ही नहीं। कहाँ वह युग था जब प्रत्येक नागरिक एक दूसरे की दुःख-गाथा सुनता था और सहानुभूतिपूर्ण स्नेह से उसकी सभी संभव सहायता करता था ? किन्तु यह एक नग्न सत्य है कि जब तक विलासिता के स्तर को नहीं गिराया जायगा, जीवन को त्याग की ओर नहीं मोड़ा जायगा, मानव जीवन में शान्ति एवं सुख का संचार होना कठिन है।

प्रारंभ में जो गाथा कही गई है, वह दशवैकालिक सूत्र की है, जो सबके लिये समान सुख का सरल मार्ग दिखाती है। जो सम्पन्न हैं, जिन्हें भौतिक साधन भरपूर मिले हैं, वे उनका त्याग करें तो समाज में सुख-साधनों का विकेन्द्रीकरण होगा

और वे सब नागरिकों तक पहुंचेंगे। सच्चे त्याग की यही महत्ता है, क्योंकि सुख-साधनों के विकेन्द्रित होनेपर पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष मिटेगा, अनैतिकता दूर होगी और भावनामय धार्मिक वृत्ति का प्रसार होगा।

इसलिये साधन-सम्पन्न वर्ग, जहाँ एक ओर कष्ट और उत्पीड़न दिखाई देता है, अपनी विलासिता का त्याग कर दे तो समस्या की सही सुलझन निकल सकती है। विलासिता से घृणा और सच्चे सुख की शोध-पिपासा जीवन में तेजोमय उत्साह की प्रेरणा फूंक सकेगी। सन्त भी इसी विलासिता को नष्ट करने के लिये साधु बने हैं। साधु वही है, जो अत्यन्त ही सादा रह कर अल्पतम लेवे और संसार को अपनी साधना का महत्तम फल प्रदान करे—त्याग करे। यही त्याग जैन मुनियों की प्रधान विशेपता है। इसी त्याग को अनुकूल अंशों में यदि गृहस्थ भी अपना लें तो सुख-प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट हो जायगा।

दुनिया में दो अवस्थाएँ हैं—अमीरी और फकीरी। एक मानव को विलासिता में मदान्ध बनाकर उसे अशान्त बनाती है तो दूसरी मानव को मानवता से ऊपर उठाकर उसके जीवन में सच्ची शान्ति का संचार करती है। सच्चे फकीर अर्थात् साधु का जीवन सदैव एवं सर्वत्र आत्म-सुख एवं मनोशान्ति से परिपूर्ण ही रहता है। इसी भावना से कवि की वाणी भी मुखरित हुई है—

फकीरी खुदा को प्यारी है, अमीरी कौन विचारी है ?

पांव में पड़ गया जो छाला,
वह भी है मोतियन से आला।
हाथ में फूटा सा प्याला,
जामे जमसेद से आला॥

कवि की यह रहस्यमय उक्ति है कि त्याग की भावना से ओतप्रोत होने पर किस प्रकार जीवन की समस्त अनुभूतियाँ ही परिवर्तित हो जाती है ? फकीरी का अर्थ साधु का वेशमात्र नहीं, विलासी जीवन का त्याग करके सादा और शुद्ध जीवन का यापन करना है। विश्व से स्वल्प लेकर सारा जीवन विश्व की कल्याणमय पवित्र सेवा में एक दृष्टि से विसर्जित कर देना है। विकार की मुक्ति के लिये बलिदानपूर्ण हृदय बनाना—यह भी साधु जीवन की सच्ची परिभाषा कही जा सकती है।

जिन २ व्यक्तियों ने त्याग का मार्ग अपनाया है, वे ही जनता के श्रद्धेय हो सके हैं, महापुरुष बन सके हैं। महावीर को ही ले लीजिये। वे इसलिये नहीं विश्वविभूति बने कि वे राजपुत्र थे, विशाल वैभव व ऐश्वर्य के धनी थे बल्कि इसलिये कि उपलब्ध होने पर भी उन्होंने उस सारे विशाल वैभव को निर्ममत्व रूप से त्याग कर प्राणी-कल्याणार्थ अपना समग्र जीवन साधना में समर्पित कर दिया। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी ऐसे महापुरुषों की स्मृतियाँ भुलाई नहीं जा सकती। उनके दिव्य सन्देश जन-हृदयों में सदैव गुंजायमान होते रहते हैं, उनमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। त्याग तो जड़ में भी है—वह न किसी

पदार्थ का भोग करता है, न किसीको कष्ट ही देता है किन्तु उसमें चेतना, विवेक और सही प्रेम नहीं, इसलिये वह अर्थशून्य है। चेतन का त्याग और वह भी समस्त प्राप्तियों के अस्तित्व में होने पर भी किया जाय, उसी की विशेषता है।

यह विचारणीय प्रश्न है कि त्याग पर अधिक बल क्यों दिया जाना चाहिये? उसका सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में क्या प्रभाव पड़ता है?

त्याग की भावना और त्याग की प्रवृत्ति अपना दुहरा असर डालती है। एक ओर तो इसका निश्चित रूप से त्याग-कर्त्ता के निज के जीवन पर पड़ता ही है। वह समस्त रिद्धि-सिद्धि का स्वामी होते हुए भी जब उससे अपना मोह हटा लेता है—उसे त्याग देना चाहता है तो उसके हृदय में विचारों का एक आन्दोलन होता है। वह जीवन में विलासिता को भूल जाता है—अपने को ही सुख देने की भावना से उपेक्षित हो जाता है। तब दूसरी ओर इस वृत्ति का प्रभाव समूची समाज-व्यवस्था पर भी पड़ता है।

व्यक्ति का त्याग समाज में फैलता है, उसके वैभव का विकेन्द्रीकरण होता है अर्थात् सुख बंटता है, विषमता घटती है और ऐसी स्थिति सामाजिक न्याय एवं धार्मिक भावना को प्रोत्साहन देती है। समाज में उस त्याग के आधार पर एक नया वातावरण भी फैलता है। त्याग के पक्ष में लोग अपने-

पराये का भेद घटाते हुए सामाजिक जीवन में एकात्मीयता एवं समसरता की चेतना को प्रसारित करते हैं।

ये दोनों स्थितियाँ व्यक्ति एवं समाज के द्वारा एक दूसरे की नैतिकता पूर्वक धार्मिकता को पुष्ट बनाती है। सबका सुख लूट कर एक उसका आनन्दलाभ करे—ऐसी राक्षसी भावना खत्म होती हैं और उसके स्थान पर एक का सुख बिखेर कर सबके लिये समान सुख की सृष्टि करने की सुचारु वृत्ति का निर्माण होता है। यही भी "सहु चाई त्ति वुच्चई" कहलाने का महत् फल हो सकता है। त्याग जीवन को उदार, व्यापक एवं सहयोगी बनाने का प्रबल आत्मभाव है।

महात्माओं का जीवन त्यागमय होता है, बल्कि त्याग ही उनका जीवन हो जाता है। पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने अपने भाईके लिये अपने अधिकार—राज्य को, त्याग दिया तो क्या उन्होंने विश्व को भ्रातृप्रेम का सुन्दर पाठ नहीं पढ़ा दिया? आज के युग में भी तो आप देखते हैं कि किस प्रकार महात्मा गांधी ने अपने त्याग एवं अहिंसामय जीवन से निरंकुश विदेशी राज पर विजय प्राप्त कर ली? विश्व के अस्तित्व की आधारशिला भी त्याग है। इसकी नींव तभी तक टिकी हुई है, जब तक अंगुलियों पर गिने जा सके जितने भी महात्मा इसे अपने त्याग से सहारा देते जायेंगे।

भारतीय संस्कृति ने सदैव त्याग को महत्त्व दिया है। अभी भी १६४७ से पूर्व जब आजादी के लिये आन्दोलन हो रहे थे

तो गांधीजी के नेतृत्व में त्याग भावना के प्रसार पर ही जोर दिया जाता था। हाँ, यह दुःख का विषय है कि आजादी पा जाने के बाद देश में त्याग की भावना का ह्रास होता जा रहा है। छोड़ देने की भावना के बजाय ले लेने की भावना का अधिक प्रसार होता हुआ देखा जा रहा है। स्वार्थ का महादैत्य लोगों के हृदयों पर छा गया है और इसीलिये त्याग नहीं, भोग की भावना प्रबल बन रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ऐसी विकृत अवस्था नेताओं और नागरिकों—दोनों की बनती जा रही है, जिसे सुधारे बिना भारतीय संस्कृति की गौरवान्वित परम्परा का निर्वाह नहीं किया जा सकेगा।

आज चारों ओर देखने से जैसे ऐसा लगता है कि कर्त्तव्य की वृत्ति लुप्त हो रही है और अधिकारों की लोलुपता बढ़ रही है। परन्तु यह सोचने की बात है कि कर्त्तव्यों की नैतिक भूमिका पर ही अधिकारों का जन्म होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धोखा देने वाले 'बकवास' बहुत बढ़ गये हैं। नेता भी वक्तव्यों पर वक्तव्य देते हैं, योजनाओं के कागजी घोड़े दौड़ाते हैं और देश का महान् विकास का स्वप्न दिखाते हैं। लेकिन समझ में नहीं आता कि जब उनमें ही त्याग का अभाव हो रहा है तो किसके संयम और नैतिकता के बल पर देश का विकास हो सकेगा? क्योंकि उन नेताओं का अन्तर्जीवन भी अधिकतर कलुषित होता हुआ पाया जाता है। व्यक्तिगत स्वार्थ, पदलिप्सा, भ्रष्टाचार सत्तान्धता एवं चरित्रहीनता के नरक-कुंड

में धधकता हुआ उनका घृणित जीवन देश में विकार ही अधिक फैला सकता है, नई प्रेरणा का उद्भव उनसे संभव नहीं।

इधर जनता भी अधिकार मांगती है, अपने कर्त्तव्यों की ओर नहीं निहारना चाहती। कर्त्तव्य ही से अधिकारों की प्राप्ति होती है चाहे वे अधिकार नागरिक के हों अथवा शासक के ? क्योंकि कर्त्तव्यों का तात्पर्य्य भी एक दृष्टि से दूसरों की सुख-सुविधा के लिये अपना त्याग करना है—सबके समान सुख के लिये अपने आपको सबमें त्यागमय बना देना है। जब कोई दूसरा एक नागरिक के लिये त्याग करता है, तो वही उसका अधिकार हो जाता है। एक का कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार होता है। मूल वस्तु तो कर्त्तव्य है—त्याग है, जिसके आधार पर सार्वजनिक सुख व कल्याण की भित्ति चिरस्थायी रह सकती है।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पड़ा है कि उसे अपने कर्त्तव्यों का भान नहीं रहता। उसे तो भान होता है अपनी स्वार्थ पूर्ति का—फिर भले ही उसमें किसी का कितना ही नुकसान क्यों न होता हो ? यही नहीं, गुरुदेव से आशीर्वाद मांगा जाता है, परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि वे उसे सुखी बनावें किन्तु आप विचार करें कि वह सुख कैसा हो ? क्या आज का मानव अधिकांशतः वैसे सुख की कल्पना नहीं करता, जिसकी रचना दूसरों के शोषण के आधार पर निर्मित होती हो ? और अगर ऐसा है तो वर्तमान मानव के

मानस का यह नग्न अन्तर्चित्र बदलना होगा—उसमें आत्म-विकास की प्रकाश रेखाएँ खींचनी होगी।

आज उस महान् आदर्श को भुलाया जा रहा है कि अपना सब कुछ निछावर करके भी दूसरों की सहायता करो। यही कर्त्तव्य है, यह भी त्याग है और यह भी धर्म है। "परोपकाराय सतां विभूतयः"—इस अनुभूति एवं वृत्ति को विश्व का प्रत्येक धर्म भी आदर देता है कि सन्तप्त प्राणी के प्रति दया करो और फिर उसके सन्ताप निवारण हित जो भी तुम दे सकते हो, दान करो। दया और दान में एक प्रकार से कारण-कार्य का सम्बन्ध है, क्योंकि हृदय करुणा-परदुःखाहरण की शुभ इच्छा, से भींग जाने पर जब कर्म करना चाहता है तो वह होता है दान। और जहाँ देने के भाव हैं, वहीं त्याग है। जहाँ त्याग है, वह निश्चय ही आत्मोत्थान का निष्कंटक पथ है।

किन्तु कोई भी भावुक एवं विचारवान् व्यक्ति यह आश्चर्य के साथ सुनेगा कि एक ऐसा भी सम्प्रदाय है जो अपने आपको महान् जैनधर्म का अनुयायी मानते हुए भी त्याग के उपरोक्त स्वरूप में एकान्त पाप मानता है। इस विचारधारा का मैं विरोधी हूं किन्तु मेरा खंडन, खंडन के दृष्टिकोण से नहीं होता। मुझे तो दुःख होता है कि जैनधर्म जैसे व्यापक एवं विशालदर्शन के नाम से ऐसी राष्ट्रघातक तथा मानवता विरोधी मान्यता क्यों फैलाई जाती है? ऐसी मान्यता को बढ़ने से रोकना सद्गुणों के हर पुजारी का पहला कर्त्तव्य होना चाहिये।

में धधकता हुआ उनका घृणित जीवन देश में विकार ही अधिक फैला सकता है, नई प्रेरणा का उद्भव उनसे संभव नहीं।

इधर जनता भी अधिकार मांगती है, अपने कर्त्तव्यों की ओर नहीं निहारना चाहती। कर्त्तव्य ही से अधिकारों की प्राप्ति होती है चाहे वे अधिकार नागरिक के हों अथवा शासक के? क्योंकि कर्त्तव्यों का तात्पर्य्य भी एक दृष्टि से दूसरों की सुख-सुविधा के लिये अपना त्याग करना है—सबके समान सुख के लिये अपने आपको सबमें त्यागमय बना देना है। जब कोई दूसरा एक नागरिक के लिये त्याग करता है, तो वही उसका अधिकार हो जाता है। एक का कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार होता है। मूल वस्तु तो कर्त्तव्य है—त्याग है, जिसकेआधार पर सार्वजनिक सुख व कल्याण की भित्ति चिरस्थायी रह सकती है।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पड़ा है कि उसे अपने कर्त्तव्यों का भान नहीं रहता। उसे तो भान होता है अपनी स्वार्थ पूर्ति का—फिर भले ही उसमें किसी का कितना ही नुकसान क्यों न होता हो? यही नहीं, गुरुदेव से आशीर्वाद मांगा जाता है, परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि वे उसे सुखी बनावें किन्तु आप विचार करें कि वह सुख कैसा हो? क्या आज का मानव अधिकांशतः वैसे सुख की कल्पना नहीं करता, जिसकी रचना दूसरों के शोषण के आधार पर निर्मित होती हो? और अगर ऐसा है तो वर्तमान मानव के

मानस का यह नग्न अन्तर्चित्र बदलना होगा—उसमें आत्म-विकास की प्रकाश रेखाएँ खींचनी होगी।

आज उस महान् आदर्श को भुलाया जा रहा है कि अपना सब कुछ निछावर करके भी दूसरों की सहायता करो। यही कर्त्तव्य है, यह भी त्याग है और यह भी धर्म है। "परोपकाराय सतां विभूतयः"—इस अनुभूति एवं वृत्ति को विश्व का प्रत्येक धर्म भी आदर देता है कि सन्तप्त प्राणी के प्रति दया करो और फिर उसके सन्ताप निवारण हित जो भी तुम दे सकते हो, दान करो। दया और दान में एक प्रकार से कारण-कार्य का सम्बन्ध है, क्योंकि हृदय करुणा-परदुःखाहरण की शुभ इच्छा, से भींग जाने पर जब कर्म करना चाहता है तो वह होता है दान। और जहाँ देने के भाव हैं, वहीं त्याग है। जहाँ त्याग है, वह निश्चय ही आत्मोत्थान का निष्कंटक पथ है।

किन्तु कोई भी भावुक एवं विचारवान् व्यक्ति यह आश्चर्य के साथ सुनेगा कि एक ऐसा भी सम्प्रदाय है जो अपने आपको महान् जैनधर्म का अनुयायी मानते हुए भी त्याग के उपरोक्त स्वरूप में एकान्त पाप मानता है। इस विचारधारा का मैं विरोधी हूं किन्तु मेरा खंडन, खंडन के दृष्टिकोण से नहीं होता। मुझे तो दुःख होता है कि जैनधर्म जैसे व्यापक एवं विशालदर्शन के नाम से ऐसी राष्ट्रघातक तथा मानवता विरोधी मान्यता क्यों फैलाई जाती है? ऐसी मान्यता को बढ़ने से रोकना सद्गुणों के हर पुजारी का पहला कर्त्तव्य होना चाहिये।

जैनधर्म की अहिंसा विशाल दृष्टिकोण को लिये हुए है। वह केवल नकारात्मक रूप में ही नहीं है। मरते हुए प्राणी की रक्षा करने एवं दीन-हीन असहाय को निःस्वार्थ भाव से सहायता प्रदान करने के रूप में भी इस अहिंसा का महान् विकास हुआ है। जिस प्रकार सिक्के की दोनों बाजू ठीक होने पर ही तो उसे खरा माना जाता है, उसी तरह पूर्ण अहिंसा में उसकी ये दोनों बाजुएं भी पुष्ट होनी चाहिये। अतः निःस्वार्थभाव से अपनी शक्तिभर सहायता करने में पाप बताने वाला धर्म का नहीं, धर्म के नाम पर अधर्म का विषैला प्रचार करता है; आध्यात्मिकता का झूठा नाम लेकर समाज को मानवता से भी नीचे गिराता है। वे जैनधर्म के नाम पर मानवता-विरोधी विचार फैलाते हैं किन्तु शान्तिनाथ प्रभु, नेमि प्रभु, पार्श्व प्रभु आदि त्यागविभूतियों के जीवन का अन्तर्दर्शन करें तो विदित होगा कि उन्होंने भीषण संकट उठाकर, प्राण देकर भी निःस्वार्थ भाव से दुःखी प्राणियों की रक्षा कर अपना जीवन विकास प्राप्त किया। शान्ति प्रभु ने मेघरथ राजा के भव में अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी शरणागत कबूतर की रक्षा की और इस प्रकार उन्होंने जगत् में दया व रक्षा का महान् महत्त्व प्रदर्शित किया।

अतः ऐसे भव्य सद्गुणों के विरोध में निजी स्वार्थों के लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ समझ में नहीं आता। यदि रक्षा करना ही एकान्त पाप होता तो इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ

प्रभु सब कुछ जानते हुए भी बारात चढ़ा कर तोरण पर क्यों गये और वहाँ से लौटकर उन्होंने सैकड़ों प्राणियों को अभय-दान क्यों दिया ? इसीलिये कि वे करुणा के सागर थे। उन्होंने अपनी प्रियतमा राजुल से भी प्राणी-रक्षा को अधिक महत्त्व दिया।

भगवान् महावीर ने तो हिंसा की धधकती ज्वाला के बीच जन्म लिया था और क्षत्रियों में वधादि की फैली हुई प्रवृत्तियों को उन्होंने ही रोका तो क्या असंख्य प्राणियों की क्रूर मृत्यु को रोककर उन्होंने भी अधर्म किया ? अगर अधर्म की ऐसी व्याख्या की गई तो महात्मा बुद्ध, ईसा, कृष्ण, राम आदि सभी महापुरुष अधर्मी ठहरेंगे। किन्तु ऐसी व्याख्या घातक, असंगत एवं अनर्थपूर्ण है। निर्बलों की रक्षा करना ही सच्ची वीरता है, आत्म-त्याग है। गौशालक की विरोधी से रक्षा करके भगवान् महावीर ने रक्षा का रूप ही हमें बताया था।

वस्तुतः निस्वार्थ भावना से उद्‌भूत होने वाली दया और दान की प्रेरणा सबके लिये समान सुख की सृष्टि करने वाली है और जीवन को उत्थान मार्ग पर ले जाने वाली है। जब इस भावना को आप अपने दैनिक जीवन में रमा लेंगे तो आपको दीखने लगेगा कि रोज के कितने कार्यों में एक व्यक्ति द्वारा कितनों का अनिष्ट होता है और वह किस तरह अपने आपको त्याग के मार्ग से नीचे गिराता है ?

उस समय आपको विचार पैदा होगा कि समाज में सर्व-

साधारण की अवस्था के अनुसार क्या आपका खानपान, पहिराव, साज-सजावट उचित है—न्यायसंगत है ? अपनी विलासिता की ओर देखिये और अपने आसपास की दयनीय दशा से उसकी तुलना कीजिये और सोचिये कि जब एक ओर मानव शोषित और पीड़ित होकर अन्न के दाने २ के लिये तरस रहा हो तो उस विलासिता का क्या रूप होगा ? क्या वह मानवता समझी जायगी ? क्या उसमें त्याग का कुछ भी भाव झलकेगा ? क्या उसमें सबकी कल्याण भावना का समावेश हो सकेगा ? और अगर यह सब कुछ नहीं होगा तो फिर धर्माचरण कहाँ होगा—प्रगति की दिशा में गति कैसे होगी ?

जहाँ चारों ओर कष्ट एवं व्यथा के काले बादल छा रहे हों: वहाँ अगर कोई अपनी विलासिता की बिजलियाँ गिरा कर दुःखियों को और अधिक दुःखी बनावे तो उसका भी क्या कोई जीवन कहलाने लायक जीवन है ? यदि गंभीरता से देखा जाय तो आज जैन श्रावकों का भी जैसा विलासी जीवन एवं चरित्र का दृष्टिकोण है तथा भोग्य पदार्थों का उपभोग है, क्या वह जैन श्रावक के नियमों के अनुकूल है ?

समाज का तथ्यात्मक वातावरण जैसे पुकार २ कर कहता है कि आज अपने जीवन में त्याग का सूर्योदय करने की आवश्यकता है ताकि स्वार्थों का भीषण अन्धकार कट जाय। यह सूर्य उस अन्धकार को काटता हुआ इस सन्तप्त धरती पर 'सबके लिये समान सुख' का उजाला कर सकेगा। आज न तो

सिर्फ बाह्य वेशरूप त्याग का ढोंग या पाखंड चलेगा और न त्याग को किसी सीमित दायरे में बन्द रखा जा सकेगा, उसे तो सब ओर प्रसारित कर देना है।

जीवन के सर्वतोमुखी विकास एवं समाज में सबके समान आत्म-सुख के निर्माण हेतु त्याग को अपने हर कर्त्तव्य में—हर प्रवृत्ति में सबको समाविष्ट कर लेना चाहिये। दिनचर्या के हर क्षण में जब त्याग का मधुर प्रवाह प्रवाहित होता होगा तभी उत्थान का अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त हो सकेगा और सत्य आत्मानन्द का रसास्वादन हो सकेगा।

इस लघुदीपके अन्तर्जगत् के इतिहास में जाने से पूर्व इस रहस्य को समझ लेना जरूरी है कि इन त्यौहारों का आयोजन क्यों किया जाता है ? "उत्सवप्रियाः खलु हि जनाः"—यह तो एक बहुत स्थूल सिद्धान्त है। हाँ, यह एक दृष्टिसे सत्य हो सकता है कि मनुष्य के जीवन में मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद की सामान्य भावना का आभास मिलता है, किन्तु मानव इतना छिछला नहीं होता कि "जिन खोजा, तिन पाइयां, गहरै पानि पैठि"—की उक्ति के अनुसार गंभीरता से विचार न करे। इन त्यौहारों के आयोजन में आन्तरिकता का रहस्य जुड़ा हुआ है, जिसे त्यौहारों की आत्मा कहा जा सकता है। इसी आन्तरिकता का प्रभाव व्यक्ति और समाज के दैनिक जीवन पर पड़ना चाहिये, क्योंकि सारे वाह्याडम्बर का असर तो उसी दिन के उल्लास के साथ समाप्त हो जाता है।

इन त्यौहारों का अपने दृष्टिकोण से एक विशिष्ट सामाजिक महत्त्व भी होता है जिसकी पृष्ठभूमि में समाज-संगठन की आत्मा बोलती है। यदि इन सभी बातों को उनके सही व उपयोगी रूप में समझा जा सके कि रक्षाबंधन के दिन किस सुरक्षा और शान्ति का भार मनुष्य पर है, होली के दिन किस तरह विकारों को जला डालना होता है, दशहरा किस अपूर्व विजय की प्रेरणा देता है और इसी तरह दीपावली पर कैसी लक्ष्मी का आराधन व पूजन किया जाना चाहिये—तो इन त्यौहारों के आयोजन की बहुत बड़ी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

आज के जन-जीवन में न जाने क्यों करीब २ सभी क्रियाएँ, चाहे वे धर्म से सम्बन्ध रखती हो या समाज के किसी अन्य क्षेत्र से—रूढ़ होती चली जा रही है। रूढ़ का अर्थ होता है—चेतना-शक्ति से हीन मशीन की तरह किसी आयोजन-प्रयोजन में जुटे रहना। यह सोचने का चेष्टा नहीं करना कि किसी आयोजन के पीछे कौनसा उद्देश्य या लक्ष्य रहा हुआ है ? यह जीवन में सुप्तता या शिथिलता का लक्षण माना जाता है। इसलिये जब तक जीवन के प्रत्येक पहलू में सजगता का संचार नहीं होता, कोई भी सिर्फ वाह्य अनुष्ठान या केवल वाह्य कार्य सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन को अभिवांछित रूपमें प्रभावित नहीं कर सकता। आवश्यकता होती है इस दृष्टि से कि हर आयोजन की आत्मा में प्रवेश किया जाय और उसमें से उसके स्वस्थ तत्त्वों की खोज की जाय जिसके आधार पर आयोजनों का वाह्य रूप भी उनकी गूढ़ आन्तरिकता को पहिचानने के अनुकूल बनाया जा सके। दीपमालिका पर्व का आयोजन भी ऐसी अवस्था में एक प्रयोग बनाया जा सकता है कि इसके अन्तर से कौनसा दिव्य सन्देश गुंजायमान हो रहा है ?

दीपमालिका को विजय-पर्व के रूप में देखा जाता है। हिंसा, अत्याचार, स्वार्थ एवं शोषण के अंधकारपूर्ण वातावरण में जैसे दीपमालिका अपने नन्हे २ दीपों की ज्योति से उस प्रकाश की झलक दिखाती है, जिसका विस्तार प्रेम, अहिंसा, सेवा और त्याग के विकास पथ पर फैला रहता है। वह प्रकाश

वाले प्रत्येक आयोजन के वास्तविक महत्त्व को समझना पड़ेगा कि वह जीवन के किस मार्मिक भाग को छू रहा है और उसका उस तरह छूना किस जागृति का वाहक हो सकता है—उसकी अन्तर्शिक्षा किस नई चेतना का प्रतीक बन रही है ?

इस त्यौहार की भूमिका में पहला काम जो किया जाता है वह है बाहरी स्वच्छता व सजावट का। यह बाह्य विवेक दूसरी बात हैं किन्तु क्या कभी आपने सोचा है कि स्वच्छता और सजावट का दायरा इस बाह्य विवेक से बहुत आगे तक भी है ? क्या आपके सामने आत्म-विकास—जीवनोन्नति का प्रश्न नहीं है और आप जिस समाज के बीच रहते हैं, उस समाज की सम्यक् उन्नति का प्रश्न नहीं है ? और यदि ये प्रश्न हैं तो इस दृष्टि से सोचने की जरूरत है कि इस त्यौहार के आन्तरिक महत्त्व को स्पष्ट करने के लिये सूक्ष्म स्वच्छता और सजावट करने की ओर आपका ध्यान आकर्षित हुआ है या नहीं ?

आज का सामाजिक जीवन व्यक्ति के जीवन पर रोशनी डालता है कि वह कितना गिर चुका हैं, उसमें कितना मैल और विकार घुस आया है ? समाज और व्यक्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और आखिर सोचा जाय तो सामाजिक जीवन है ही क्या—व्यक्तियों के जीवन का औसत अनुमान ही तो ? क्योंकि व्यक्तियों के सामूहिक जीवन का नाम ही सामाजिक जीवन है। व्यक्ति एक कार्य की शुरुआत है तो समाज उसी

कार्य की समाप्ति का स्थान। एक-एक व्यक्ति का जीवन-विकास समग्र समाज के विकास के रूप में बदल सकता है।

अतः दीपमालिका का पहला आयोजन होना चाहिये—जीवन की स्वच्छता और सजावट का। आपका भावनामय जगत् इस प्रकार स्वच्छ व सम्यक्प्रकारेण सुसज्जित हो कि मानसिक विकारों के विनाश के साथ २ सद्विचारों का निर्माण भी हो। तदनन्तर आपके वचन और आपके कार्य शुद्धिकृत व नवसज्जा युक्त मन के अनुरूप ढलने लगेंगे। इस तरह के व्यक्तिगत जीवन के निर्माण का प्रभाव होगा कि उस पवित्र सम्पर्क से समाज में भी उस वातावरण की रचना हो सके—ऐसी प्रेरणा मिलेगी। जितना बाहरी सजावट और स्वच्छता का कार्य आसान है, उतना ही आन्तरिक एवं सामाजिक स्वच्छता व सजावट का कार्य कठिन है। अतः इसमें सफल बनने के लिये निर्लेपता तथा शुद्ध कठोर कर्मठता की अधिक आवश्यकता होती है।

जैसा कि अभी ऊपर बताया गया है, दीप इस विजयोल्लास के त्यौहार का प्रतीक है। चूंकि ज्ञान का प्रतीक भी दीप है, अतः यह पर्व सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस ज्योति-पर्व के अवसर पर किसी भी प्रकार के अन्धकार को टिकने नहीं देना—इसी में इस पर्व की महान् उपयोगिता हो सकती है।

आज मानव अज्ञान एवं स्वार्थ के अन्धकार में भटक रहा

है। उसका तेज प्रतिभा एवं प्रकाश क्षीण होता हुआ सा लग रहा है। उसने अधिकांशतः अपने जीवन की महत्ता स्वार्थपूर्ति में ही समझने की चेष्टा करनी शुरू कर दी है। वह नहीं देखना चाहता कि उसकी इस स्वार्थपूर्ति की चेष्टा में कितना अन्याय, शोषण एवं उत्पीड़न उसके हाथों से हो रहा है? हृदय में जब तक अन्तर्दीप जगमगा नहीं उठेंगे, सच्चा प्रकाश फैल नहीं सकता। श्रमिकों के रक्त शोषण पर खड़ी की गई गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के कंगारों पर रंग-बिरंगे बल्ब लगाने से तो दीपमालिका की एक दृष्टि से वास्तविकता की हत्या हो सकती है। वह बाह्य प्रकाश छल, कपट, ईर्ष्या आदि मनोविकारों से भरे हुए हृदय के अन्धकार को नहीं वेध सकता। यह दिवस बाहरी ज्योति जलाने का नहीं, मूलतः अन्तर्ज्योति को प्रकाशित करने का है। इसी रूप में दीपमालिका का प्रकाश जीवनोन्नति का कारणभूत हो सकता है।

एक ओर दीपमालिका का आयोजन होता है कि आज के दिन वर्ष भर का हिसाब जांचा जाता है और उसका आंकड़ा बनाया जाता है। यह जानने के लिये कि विगत वर्ष में कितना लाभ हुआ और कितनी हानि? हर व्यापारी इस कार्य को आज के दिन पूरी तत्परता के साथ पूरा करता है, किन्तु आपने जीवन-व्यापार के हिसाब की बात को कभी गहराई से सोचा भी है? इस पर्व को जीवन-विकास का पर्व मानिये और पिछले वर्ष की अपनी सारी वृत्तियों और कृतियों की बही खोलकर

देखिये कि उसका जमाखर्च किधर जा रहा है ? आज समझ में नहीं आता कि प्रत्येक अनुष्ठान-कार्य का धन प्राप्ति के रूप में लाभालाभ का फल अधिकतर क्यों सोचा जाता है ? भौतिकता के आवरण ने अन्तर्नेत्रों पर पर्दा डाल दिया लगता है और उस आन्तरिक प्रकाश को ओझल कर दिया प्रतीत होता है, जिस आत्मालोचन के प्रकाश में जीवन का सच्चा आंकड़ा बनाया जा सकता है। जीवन का सत्य प्रकाश और विकास भौतिकवाद से दूर आत्मिक आनन्दानुभव में रहा हुआ है। इसी दृष्टि से इस पर्व पर अपने जीवन के पिछले कार्यों का आलोचन-प्रत्यालोचन करना चाहिये तथा आगामी वर्ष की विकास-योजना तैयार करके तदनुसार कार्यान्वन किया जाना चाहिये।

भौतिक दृष्टि से भी तो प्रायः सभी व्यक्तिगत स्वार्थों की बात ही सोचते हैं। उधर नजर नहीं डालना चाहते कि स्वयं से नीचे कितने मनुष्य आर्थिक दरिद्रता में अपने जीवन की क्रूर हत्या करते हैं। सामाजिक जीवन में विकार और चोरी, हिंसा आदि की भयंकर अपराध वृत्तियों के पीछे किसी न किसी रूप में आर्थिक असमता भी काम करती है तो यह जरूरी होता है कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक शुद्धि और समता के लिये भौतिकवादी स्वार्थी मापदंड से ऊपर उठकर शुद्ध भावनात्मक आलोक में अपने अन्तरतम के विकास का लेखा किया जाय तथा नामे की तरफ बढ़ते हुए जमाखर्च को रोक कर जमा की भारी रकमें आंकड़े पर लाने का दृढ़ निश्चय किया जाय। दीवाली के दिन

ऐसे लेखे जोखे और आंकड़ों को वनाने की आवश्यकता है ताकि इसके आयोजन में व्यापक हित एवं निरन्तर प्रगति का पथ परिलक्षित हो सके।

दीपावली का प्रधान अनुष्ठान आप लोग करते हैं—लक्ष्मी की पूजा और नई प्रारंभ की गई हिसाव की वहियों में ऋद्धि-सिद्धि की कामना का अंकन।

लक्ष्मी की पूजा की जाती है किन्तु क्या कोई लक्ष्मी के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास करता है? शायद लक्ष्मी को आज की पूजा से सजग वनाने की भावना रखी जाती है कि वह अपनी अमित कृपा का भंडार अपने भक्त पर वरसावे। पर सोचने का प्रश्न है कि वह कैसी लक्ष्मी और उसका कैसा भंडार—जिसकी कि भक्त कामना करता है?

आप इसका तुरन्त उत्तर देना चाहेंगे कि यह तो वहुत साफ है—धन की देवी लक्ष्मी और उसका भंडार धन, जिसकी कि भक्त कामना करता है। किन्तु सत्य समझिये कि भक्त की ऐसी कामना भ्रमपूर्ण और आत्मघातक है। लक्ष्मी धन की देवी है परन्तु समाज का वह धन कौनसा है? क्या सोना चांदी, कीमती पत्थरों व नाना पदार्थों के रूप में समझा जाने वाला जड़ रूप धन ही धन है? और क्या उन जड़ पत्थरों की देवी ही लक्ष्मी है? यदि ऐसा माना जाता है तो यह लक्ष्मी का अपमान कहा जाना चाहिये।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर मैं वाद में प्रकाश डालूं, मगर

भौतिक दृष्टि से भी तो वह धन वास्तविक धन कहाँ हैं ? धन उसे कहा जाय—जो किसी के द्वारा पैदा किया जाता है या उसे कहा जाय—जो स्वयं पैदा करने वाला है। वह चेतन धन है—श्रम करने वाला स्वयं श्रमिक, जो अपने विवेकयुक्त चेतन श्रम के आधार पर जड़ धन की उत्पत्ति करता है। अब आप ही बताइये कि उत्पादक बड़ा है या उत्पन्न पदार्थ। यही भौतिक लक्ष्मी का स्वरूप कह सकते हैं। अतः सामाजिक दृष्टि से लक्ष्मी की पूजा करने का अर्थ श्रम की पूजा करना भी किया जा सकता है।

श्रम की पूजा से अभिप्राय निकाला जा सकता है कि समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी २ अवस्थानुरूप श्रम को ही अर्जन का मुख्य साधन माने। और सिर्फ दूसरों के श्रम पर आलस्य प्रमाद आदि की जो परम्परा चल पड़ी है उस प्रणाली का खात्मा हो जाय तो यह निश्चय है कि प्रायः सभी अपने आपको स्वालम्वी श्रमिक बना लेंगे, और एक दृष्टिसे सभी बराबर होंगे और सभी सुख के अन्वेषक बन जायेंगे। इस सामाजिक स्थिति का परिणाम अवश्य ही आध्यात्मिक उन्नति के रूप में होता हुआ दिखाई देगा, क्योंकि यह एक अनुभूत सत्य है कि श्रम करने वाले का जीवन सरल, निष्कपट और शुद्ध पाया जाता है। उस दशा में जब कि सभी समान रूप से और सत्सहयोग से श्रम करने वाले के लिये भौतिक ऋद्धि-सिद्धि की भी अल्पता नहीं रह सकती, किन्तु तारीफ यह होगी कि तब

किसी का भी उसमें वन्धनकारक ममत्त्व नहीं रहेगा। सभी उसे नगण्य समझते हुए आत्म-विकास एवं सामूहिक प्रगति को विशेष महत्त्व देना चाहेंगे और उसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये अथक प्रयास करेंगे।

क्योंकि श्रमरूपी लक्ष्मी का पूजन आत्म-लक्ष्मी के आह्वान के लिये सामाजिक धरातल तैयार करेगा और तव व्यक्ति का जीवन इतना ऊपर उठ जायगा कि उसका लक्ष्य अधिकाधिक वहिर्मुखी से मुड़कर अन्तर्मुखी होता जायगा। वह आत्मलक्ष्मी के आह्वान का अवसर होगा, क्योंकि वैकारिक वन्धनों से पूर्ण स्वतंत्रता और उच्चतम विकास की प्राप्ति आत्म-लक्ष्मी के आह्वान एवं आराधन में ही सम्पन्न हो सकती है।

जैसे दीपावली के प्रत्येक अनुष्ठान के साथ आत्मिक सम्वन्ध जोड़ा गया है, तदनुसार कार्य करने से आत्म-लक्ष्मी की पूजा सरल हो जायगी। आत्मिक विकारों को स्वच्छ कीजिये, सद्-विचारों की सजावट वनाइये, सम्यक् ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैलाइये, अपने पिछले जीवन का आंकड़ा मिलाइये और उसके वाद जीवन-विकास की नई वही में दृढ़ निश्चय एवं आत्म-विकास की कठोर कर्मण्यता की कलम से आत्म-लक्ष्मी की पूजा के लिये सम्यग् चरित्र का स्वस्तिक अंकित कीजिये। फिर संसार की कोई शक्ति आपकी आत्म ऋद्धि-सिद्धि और विकास-वैभव को आपके पास आने से अवरुद्ध नहीं कर सकती। आत्म-चिन्तन में अपने निज के प्रति, समाज, राष्ट्र

और लोककल्याण के प्रति कर्त्तव्यों की अवहेलना के बारे में सोचने पर मनुष्य को अपनी कमजोरियाँ दिखाई देंगी लेकिन तभी सद्ज्ञान का प्रकाश उस अंधकार को छिन्न-भिन्न कर देगा और विकास की मंजिल का दृश्य साफ बना देगा ताकि वह मजबूत इरादे के साथ उसकी ओर तेजी से बढ़ सके।

दीपावली समारोह के बाद आपके यहाँ यह भी पद्धति है कि शुभकामना के सन्देश आप अपने मित्रों, सम्बन्धियों एवं परिचितों को भेजते हैं तो ऐसा सन्देश पूर्ण हार्दिकता के साथ अपने परिचितों तक ही सीमित न रख कर उसका प्रसारण समस्त प्राणियों के साथ जोड़ दीजिये। इसका यथार्थ रूप यह होगा कि आप अपने दैनिक जीवन में किसी भी दूसरे प्राणी के हकों को नहीं कुचलना चाहेंगे। सूत्रों में कहे—"सम संविभाग" के मर्म को समझ कर आचरण में लाना चाहेंगे। आपको तब यह भी देखना होगा कि धनोपार्जन भी नैतिकता के आधार पर ही किया जा रहा है क्योंकि उसमें जहाँ भी अनीति का व्यवहार हुआ कि उस शुभकामना के सन्देश की आपको अपने सामने ही हत्या होती दिखाई देगी।

अतः इस पर्व पर आप लोग प्रतिज्ञा करें कि इसका समस्त आयोजन आत्म-ज्योति पर्व के रूप में किया जायगा और जो कुछ किया जायगा, वह आत्म-विकास की वास्तविकता को दृष्टि में रख कर ही किया जायगा, क्योंकि कोरा बाहरी दिखावा कभी भी अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति नहीं करा सकता।

अधिकांशतः आज सब ओर ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म करने की—सत्पुरुषार्थ करने की मनोवृत्ति लोगों में घटती जा रही है। जो यह मान्यता है कि कर्म करो, फल की ओर न देखो—शायद उसके स्थान पर लोगों की मनोदशा ऐसी हो सकती है कि फल तो ऊँचा से ऊँचा मिले, मगर कर्म करना नहीं पड़े जैसे श्रम और पराक्रम की भावना नहीं रही। आज काल्पनिक केवल रूढिगत पूजन के पश्चात् आप लोग अपनी वहियों में लिखते हो—धन्ना और शालिभद्र की ऋद्धि मिले, अभयकुमार जैसी बुद्धि मिले, भरत चक्रवर्ती जैसा ऐश्वर्य प्राप्त हो हो और बाहुवलि जैसा बल मिले, किन्तु सोचो, वह सब लिख देने मात्र से मिल जायगा क्या ? क्या आपने धन्ना और शालिभद्र की तरह सारी सम्पत्ति का निर्ममत्व रूप से त्याग करना सीखा है ? क्या अभयकुमार की तरह अपने हृदय को निर्मल और पवित्र बना रखा है ? क्या भरत चक्रवर्ती की तरह सांसारिक मोह छोड़कर निर्लेपता की वृत्ति पैदा की है ? क्या बाहुवली की तरह कठिन साधना का व्रत ग्रहण किया है ? और अगर ऐसा सब कुछ करने की भावना तक का भी निर्माण आपने नहीं किया है तो फल प्राप्ति किस आधार पर करना चाहोगे ? शुभ कामनाओं की सिद्धि आत्म-साधना की कठोर बुनियाद पर ही प्राप्त की जा सकती है। शुभ कठोर कर्म कीजिये, उसके फल तो फिर स्वतः ही प्रकट हो जायेंगे। फल की

इच्छा वा कामना पर किया गया कर्म अनुकूल फलीभूत भी हो या नहीं—कहा नहीं जा सकता।

अतः आज के पर्व दिवस का कर्त्तव्य है कि इन लघुदीपों की पृष्ठभूमि में महापुरुषों के दिव्य चरित्र का पुनीत स्मरण किया जाय और इस मंगल पर्व के जागृत सन्देश को इस रूप में हृदयंगम करने का शुभ प्रयास किया जाय कि जिस तरह उन विश्वविभूतियों ने त्याग, सच्चा प्रेम और सेवा के पथ पर चल कर अपनी अडिग कर्मण्यता का परिचय दिया और निज के जीवन के साथ २ जगत् के जीवन को प्रकाशित किया, उसी तरह आप भी सत्कर्मठ कर्मण्यता का व्रत लें और अपनी समस्त सत्शक्तियाँ लगाकर निज के एवं समाज और धर्म के क्षेत्र में प्रगतिशील तथा प्रकाशमान नवीनता का संचार करें।

यदि ऐसे दिव्य सन्देश को सत्कर्म में उतारा जायगा तो व्यापक विकास एवं लोक-कल्याण का सर्वत्र प्रादुर्भाव हो सकेगा।

यांत्रिक सभ्यता कसौटी पर

श्री जिन अजित नमूं जयकारी...
तुम देवन को देव जी
जयशत्रु राजा ओ विजया राणी को
आत्मजात तुम एव जी

जड़ और चेतन के सम्पर्क से संसार का गति क्रम संचालित होता है। जड़ अकेला जागतिक प्रेरणा का कारणभूत नहीं हो सकता और अकेला चेतन परमगति मोक्ष में अवस्थित हो जाता है। तो दोनों का जो मेल होकर यह सारी दृष्टिगत रचना बनती है—वही आत्मा और पुद्‌गलों का संयोग है, आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का सम्मेलन है। किन्तु यहां अजित प्रभु की जो प्रार्थना की गई है उसका प्रधान आशय यही है कि अजित प्रभु अजित बने रहने का निश्चय पैदा करने में प्रेरणा देने वाले हैं। जहाँ तक इस संसारगत सद्‌व्यवस्था का प्रश्न है—दोनों का सुविधाभरा मेल हो किन्तु ऐसी स्थिति न बने कि जड़ चेतन पर अधिकार कर ले, आत्मा पुद्‌गलों के लुभावने जाल में फंस जाय या आध्यात्मिकता भौतिकता के सामने घुटने टेक दे।

अजित प्रभु से यही प्रार्थना है कि चेतन तत्त्व अजित रहे, वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को न भूले और अपना लक्ष्य प्राप्त

करने में जहाँ तक साधनभूत हो—जड़ की सहायता ले तो ठीक, लेकिन जड़ से कभी भी अधिशासित न हो जाय। यांत्रिक सभ्यता की कसौटी भी इसी सत्य को समझने के साथ की जा सकती है। यंत्र शक्ति का उत्पादक होता है किन्तु वह चेतन की अमित शक्ति को कहीं ढक तो नहीं लेता है ? या यंत्र की समाज में दुर्व्यवस्था होने के कारण उस पर कैसे नियंत्रण की आवश्यकता है कि वह मनुष्य को अपने स्तर से नीचे न गिरा दे—ये सब सोचने की बातें हैं।

समाज के वैज्ञानिक विकास में विश्वास रखने वाले मानते हैं कि सबसे पहले आदिम काल में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई भान नहीं था। सब सम्पत्ति निरधिकार रूप में सबकी मानी जाती थी। किन्तु पशुपालन और कृपिप्रारंभ करने के रूप में पहली बार सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की स्थापना हुई। इस तरह के अधिकार के पैदा होने पर निजी स्वार्थों व भोग-विलास के लिये घुड़दौड़ शुरू हुई। तब सुरक्षा का प्रश्न पैदा हुआ और अलग २ बस्तियों की रक्षा करने के लिये सरदार नियुक्त किये गये। इस प्रणाली ने सामन्तवाद की नींव डाली। तब कहा जाता है कि मनुष्य की अर्थलिप्सा की वृद्धि के साथ २ व्यापार की प्रवृत्ति का उदय हुआ, जिसका विकसित रूप आज का पूंजीवाद माना जाता है।

पूंजीवाद में मनुष्य का मुख्य उद्देश्य मुनाफा बन जाता है इसलिये अन्य विकासक तत्त्वों से उपेक्षित होकर जब व्यापारी

केवल अपने ही मुनाफे की ओर ध्यान रखता है तब उसकी पूंजी बढ़ने लगती है। नीति और धर्म को खोकर निम्नस्थ वर्गों के शोषण से पूंजी का संचय होता चला जाता है और यह संचय पूंजीपति को मजबूर करता है कि उस संचित पूंजी को वह जगह २ व्यापार में लगावे ताकि उससे और अधिक मुनाफा बटोरा जा सके। यही विस्तृत पूंजीवादी मनोवृत्ति साम्राज्यवाद का रूप धारण करती है, जिसमें विश्वयुद्धों का दावानल जलता है और मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति का घातक विनाश होता जाता है।

यह रूपरेखा है समाज के विकास की, जो विज्ञान में विश्वास रखने वाले मानते हैं। इसमें कितनी सत्यता है या कितनी असत्यता—इस पर चर्चा न करके यदि यह माना जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि समाज में जब भी चेतन पर जड़ का शासन बढ़ता है तो उसका परिणाम मानवता पर अन्याय और शोषण के रूप में ही पैदा होता है। यंत्रवाद के निर्दय बोझ के नीचे आज मानवता बुरी तरह कराहती हुई दीखती है—उसका भी यही कारण हो सकता है कि उन पर मनुष्य का नियंत्रण न होकर मनुष्य यंत्रों द्वारा नियंत्रित होता जा रहा है। इससे पराश्रय पैदा होता है—पाप और पतन का कारण।

तो यंत्रों की दुर्व्यवस्था या उनके मनुष्य पर हावी हो जाने की परिस्थिति के आधार पर आज जिस सभ्यता का निर्माण

हुआ है, वह केवल अर्थलिप्सा के पीछे पनपी है और आत्म-विकास से दूर केवल भौतिकवादी सिद्धान्तों की गोद में पली पोपी है। ऐसी सभ्यता जीवन के सच्चे विकास में कितना सहयोग दे सकती है—यह एक गंभीरता से मनन करने की स्थिति है।

यह सत्य है कि जब मनुष्य केवल भौतिकवादी लक्ष्य की प्रगति करता है और आध्यात्मिकता से सर्वथा किनारा कर लेता है तो शोषण एवं उत्पीड़न का चक्र चलता है, क्योंकि बिना दूसरों के परिश्रम का शोषण किये व्यक्तिगत स्वार्थ अर्थलिप्सा का पोषण नहीं हो सकता। इस अर्थलिप्सा के फलस्वरूप ही व्यापार भी काफी जटिल रूप वाला बनता गया। वैसे अपने सादे रूप में व्यापार इस बात का माध्यम था कि पदार्थों का आवश्यकतानुसार स्थानों पर आदान-प्रदान वा आयात-निर्यात किया जाय ताकि आम जनता को आवश्यक पदार्थ अपने ही स्थान पर प्राप्त करने की सुविधा हो। इसलिये ऐसे तौर तरीकों के व्यापारों का निषेध था, जो बजाय सुविधा के सिर्फ अर्जन के आधार पर टिके हुए हों या जिनके संचालन में भारी शोषण व जीव हिंसा की संभावना हो।

इसीलिये श्रावकों—धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियों के लिये भगवान् महावीर ने १५ प्रकार के व्यापारों का निषेध किया है:—

१—इंगालकम्मे २—वणकम्मे

३—साड़ीकम्मे	४—भाड़ीकम्मे
५—फोड़ीकम्मे	६—दंतवणिज्जे
७—लक्खवणिज्जे	८—रसवणिज्जे
९—केसवणिज्जे	१०—विषवणिज्जे
११—जन्तपिलणकम्मे	१२—निल्लंछणकम्मे
१३—दवग्गिदावणियाकम्मे	१४—सरदहतलायसोसणियाकम्मे
१५—असईजणपोसणियाकम्मे	

और इस निषेध का यही अभिप्राय हो सकता था कि व्यापारी शुद्ध-नीति से अपना व्यापार चलाता हुआ महाआरंभ से बच सके तथा सामाजिक दृष्टिकोण से किसी अन्य के अधिकार छीनने की ओर उसकी लालसा न जागे। उपरोक्त पन्द्रह प्रकार के व्यापारों में 'यंत्र पीलन कर्म' भी आ जाता है, जिसके अनुसार व्यापारी उन सभी यंत्रों का प्रयोग न करे, जिनसे शोषण व उत्पीड़न की महान् हिंसा होने की संभावना हो।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि यंत्रों के प्रसार एवं उसके साथ उनकी सामाजिक दुर्व्यवस्था के कारण वर्ग भेद अर्थात् शोषक और शोषित का भेद पैदा होता है, जहां पूरी मेहनत करने पर भी शोषित वर्ग पेटभर अन्न के लिये तरसता हुआ देखा जा सकता है। ऐसी जटिल परिस्थितियों में हिंसक क्रान्तियों को प्रश्रय लोग देने लग जाते हैं, जिनके द्वारा हिंसक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती है एवं धर्म और नैतिकता का विनाश होता है।

कोई यह तर्क करे कि वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों की जटिलता का दोष यंत्रों पर कैसे डाला जा सकता है? यंत्र तो जड़ होता है तथा दोष तो प्रयोग करने वाले चेतन का है, जो अपनी वासनाओं को नियंत्रण में न रख सकने के कारण इन यंत्रों का दुरुपयोग करता है। उसी का परिणाम होता है कि मानव जाति का कल्याण करने की बजाय इन यंत्रों द्वारा नर-संहार के भयंकर दृश्य उपस्थित किये जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक इस तथ्य पर भी विचार कर लिया जाना जरूरी है कि यह सही है, मनुष्य का रास्ता गलत है किन्तु यह भी उतना ही सही है कि रास्ता बनाने में सामने का वातावरण भी बहुत कुछ सहायता देता है, असर भी पहुंचाता है। बन्दर की भावना हो या नहीं—मगर यदि उसे कहीं से एक उस्तरा मिल जाय तो बहुत कुछ संभव है कि वह अपने ही हाथ से अपनी डाढ़ी छील लेगा। अपनी नादानी में स्वयं की रक्षा का भी भान उसे नहीं रहता है। इसी दृष्टिकोण से यह स्थिति भी कम से कम वर्तमान सामाजिक अवस्था में कुछ दुष्कर सी प्रतीत होती है कि प्रत्येक मानव सामने प्रलोभनकारी—गिरने के साधन, अस्तित्व में होते हुए भी अपने आपको मजबूती से खड़ा रख सके। क्योंकि जो ऐसी अवस्था में भी मजबूती से खड़े रह कर न सिर्फ अपने पतन को बचा लेते हैं बल्कि अपनी दृढ़ता का एक आदर्श भी पेश कर जाते हैं, वे ही तो संसार के लिये महानता का रूप धारण कर लेते हैं।

अतः मनुष्य की इस स्वाभाविक कमजोरी की ओर देखते हुए उसे अपने सामने के वातावरण की तरफ विशेष रूप से ध्यान देना होगा। बन्दर के हाथ के उस्तरे की तरह मनुष्य भी इन्हें दुर्व्यवस्थित रख कर उत्तेजित हो गया है, वर्बर हो गया है। उसे भान नहीं कि यही यंत्र किस प्रकार स्वयं उसी पर राज कर रहा है, अपने ही साथियों पर घृणित अत्याचार करने के लिये विवश कर रहा है? इसलिये मनुष्य की वासनाओं पर नियंत्रण का भाव पैदा करने के साथ २ यह भी अनिवार्य है कि उसके सामने से उन वासनाओं के उद्दीपक वातावरण को भी दूर हटाया जाय। यह सोचने की बात है कि आज का अज्ञान मनुष्य को जड़चालित वनने पर क्योंकर इतना मजबूर कर रहा है?

इससे पहिले कि यंत्रों द्वारा निर्मित आज के पराधीन वातावरण पर विचार किया जाय, एक नजर उस पुराने जमाने की ओर भी डाल लेना उचित होगा, जब मनुष्य एक स्वतंत्र इकाई के रूप में अपना जीवन निर्वाह करता था। गांवों के स्वच्छ एवं निर्मल वातावरण में खेती और छोटे-छोटे उद्योग-धंधे पनपते थे, जिनमें सबके पालन-पोषण का एक सुरम्य भाव बना रहता था। गांव का किसान, बुनकर, सुथार, कारीगर, लोहार व मिहनत करने वाले सभी प्राणी एक ऐसे भ्रातृत्व के सूत्र में बंधे रहते थे, जहाँ स्व परिश्रम के सिवाय प्रायः शोषण की कोई गुंजाइश नहीं

रहती थी। यहाँ तक कि गांव का व्यापारी भी उस स्नेहमंडली का परम निकट सदस्य होता था।

अभिप्राय यह कि उस सादे जीवन में एक आनन्द था, वहां आज का नीरस जीवन एक बोझ बन गया दीखता है। आपकी हर आवश्यकतामें आपको पराधीन रहना पड़ता है। मिलों में हड़ताल हो गई, वस्त्र मिलना कठिन। रेलों की दुर्घटना हो गई—सैकड़ों की जिन्दगी बरबाद। और इसी तरह छोटी २ जरूरतों में भी मशीनों ने आज के समाज पर अपना आधिपत्य जमा लिया है।

यंत्रवाद के समर्थक यह कहेंगे कि आज संसार को कितनी सुख-सुविधाएँ यंत्रों से प्राप्त हुई है? किस प्रकार दूरी और समय पर—प्रकृति की गतिविधियों पर मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली है? वे कहना चाहेंगे कि तेजगति से चलने वाले कल-कारखाने कितनी अधिक मात्रा में उत्पादन करके क्या मनुष्य समाज की सभी आवश्यकताओं की पूरी २ पूर्ति नहीं कर सकते हैं? किन्तु मैं सोचता हूं कि वे यंत्रवाद की केवल एक बाजू को देखकर ही ऐसा कहते हैं। उन्होंने उसकी उस दूसरी बाजू को नहीं देखा है, जहां बहुसंख्यक जनता रोटी और रोजी के लिये गुलाम हो जाती है, जहां एक मशीन के पीछे हजारों हाथ बेकार होकर बरबादी के चक्कर में डूबकर खतम हो जाते हैं। और यंत्रवाद की यह बाजू ही आज संसार को शान्ति और सुरक्षा के खतरे में डाले हुए है।

ऐसी दशा में ज्ञात होगा कि यंत्रवाद ने उन्नति की अपेक्षा मानवता का विनाश ही अधिक किया है। यंत्रवाद से उत्पन्न राक्षसी वृत्ति को आज दुनिया के विभिन्न भागों में भलीभांति देखा जा सकता है कि एक तरफ जहाँ उत्पादन के अभाव में मानव अन्न के दानों के लिये तरस २ कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर डालता है, वहां अधिक उत्पादन के कारण किन्हीं देशों में अनाज या अन्य खाद्योत्पादन नष्ट किया जाता है, और वह इसलिये कि ये पदार्थ इस तरह नष्ट न किये जांय तो उनके भाव सस्ते हो जांय और व्यवसायियों के पेट पूरे न भरें। यह सब यंत्रवाद की दुर्व्यवस्था की फल है कि इस पर श्रमिकों का सामूहिक नहीं, मालिकों का व्यक्तिगत अधिकार होता है, जिससे उनका कुफल व्यापक हो जाता है।

इसके सिवाय भारत में तो यंत्रवाद बिलकुल अभिशाप के रूप में सिद्ध हो रहा है। जहाँ काम करने वाले हाथों की कमी हो, वहाँ दूसरी बात है किन्तु भारत जैसे देश में, जहाँ हाथों को काम नहीं मिलता, यंत्रवाद द्वारा बेकारी और तबाही ही बढ़ती हुई दिखाई दे रही है। भारत में यंत्रों के फैलाव के पहिले बिखरे हुए उद्योग धन्धों से कितनों का जीवन-यापन सुखपूर्वक होता था और यही कारण हो सकता है कि उस समय कोई आर्थिक दृष्टि से विशेष दुःखी न था। गरीब विधवाएँ चरखा चला कर, किसान छोटा-मोटा हल चला कर और गाड़ीवान अपनी टूटी-फूटी बैलगाड़ी चला कर भी अच्छी तरह जीवन

बसर कर सकता था किन्तु आज बड़ी २ चिमनियों से धुआं छोड़ती हुई भीमकाय मिलों, मीलों एक साथ धरती को खोद देने वाले ट्रैक्टर और पूंजी के जोर पर चलने वाली मोटरें, ऐसा लगता है कि उन लाखों साधनहीन गरीबों के जीवन को चवा गई—उनके दीनहीन साधनों के भी पंजर टूट गये। एक दृष्टि से भारत में यंत्रों ने बहुसंख्यक लोगों के संकटों को बढ़ावा दिया है।

आर्थिक दृष्टिकोण से जहाँ छोटे २ विखरे उद्योग धन्धों से सबका जीवन निर्वाह शान्तिपूर्वक होता था, और किन्हीं अंशों में समाज की सम्पत्ति का कुछ न कुछ उचित रूप में सब के पास वितरण होता था, वहां इस यांत्रिक पद्धति द्वारा चन्द हाथोंमें अर्थसंचय होने लगे। इसका नतीज़ा वही हुआ है और होने वाला है जो शरीर में सर्वत्र रक्त परिभ्रमण के अभाव में लकवे के कारण शरीर का हो जाता है।

यंत्रों के बाहुल्य ने जन-स्वास्थ्य पर क्या असर डाला है—यह सर्वत्र देखने में आता है। मिलों में काम करने वाला मजदूर मशीन से भी वदतर हो जाता है। जिस भड़भड़ाहटमें आप एक मिनिट भी नहीं ठहर सकते, वहाँ वह सारे दिन भर काम करता है। इसी तरह पैदल भ्रमण की जो लोगों की पहले शक्ति थी, अब वह कहां ? एक फर्लाङ्ग भी जाना हुआ तो सवारी की जरूरत पड़ती है। जन-स्वास्थ्य पर यंत्रवाद के हुए कुप्रभाव को आज के लोगों के चेहरों पर देखा जा सकता है। जो स्वस्थ

सौन्दर्य और तेज पहले के लोगों के मुख पर दिखाई देता था, अब वह मशीन युग के आज के लोगों के चेहरों पर कहाँ देखने को मिलता है ? क्रीम, स्नो और पाउडर आदि की पीतली चमक में वह वास्तविक आभा लुप्त होती जा रही है।

प्रधान दृष्टिकोण, जिस पर विशिष्ट रूप से विचार किया जाना चाहिये—वह है आध्यात्मिक दृष्टिकोण। इस संसार से आध्यात्म बिलकुल जुदा नहीं है किन्तु यह तो उस तरह का मिठास है जो सांसारिक जीवन रूपी पानी को सम्यग् परिवर्तन के साथ स्वादिष्ट सुपेय बना देता है। आध्यात्म के सर्वथा अभाव में तो यह सांसारिक जीवन सचमुच राक्षसी जीवन का प्रतिरूप बनता हुआ देखा जाता है। नीति और सद्विचारों के साथ आत्मरमण से ओतप्रोत जीवन का नाम ही आध्यात्मिक जीवन है जहाँ आत्मोत्थान की एक अमिट लगन लग जाती है। यह जीवन केवल साधु ही नहीं एक गृहस्थ भी अपना सकता है, जबकि उसे जीवन में संयम व त्याग का महत्त्व विदित हो जावे।

उपासगदशांग सूत्र में भगवान् महावीर ने धार्मिक गृहस्थों के परम आदर्श जीवन का वर्णन किया है। आनन्द श्रावक अपनी हजारों एकड़ खेती का फल स्वयं अकेला प्राप्त नहीं करता था बल्कि उससे हजारों व्यक्तियों का पोषण होता था। एक तरह से आज की सहकारिता पद्धति के भाव उस समय भी मौजूद थे। इसी तरह व्यापार भी उनका नीतिपूर्वक होता था।

नीति का यही तात्पर्य्य है कि अपना न्यायानुकूल भाग प्रत्येक को मिले।

वास्तव में देखा जाय तो यंत्रवाद के आयोजित प्रसार एवं उसकी सामाजिक अव्यवस्था ने धार्मिकता की भी जड़ें खोखली की है और उसके नाम पर जो सभ्यता पनप रही है वह इस तरह की जहरीली सभ्यता है जो मनुष्य को भावनाशून्य पशु-सा बनाकर छोड़ सकती है। धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से जीवन तत्त्व हैं और इन्हें इस विकृत युग से अधिक गहराई से समझने की आवश्यकता है।

धर्म और नैतिकता की बुनियाद में कभी अन्तर नहीं आता। पानी से सदैव प्यास बुझती है और अग्नि सदैव उष्णता देती है, उसी तरह धर्म और नैतिकता के तत्त्व सदैव जीवन का उत्थान करने वाले होंगे। केवल भावशून्य धार्मिक क्रियाओं से बाह्य रूप में आत्मोत्थान में कमी आ सकती है किन्तु उनमें वास्तविकता लाने के लिये कुछ सोचा जाय जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन-व्यवहार के रूप में किसी दृष्टि से उपयुक्त भी हो सकता है।

किन्तु आज सभ्यता की सबसे बड़ी देन यंत्र को माना जाता है—इसमें कुछ सत्यांश भी हो किन्तु जिस प्रकार की इसकी अधिकांशतः सामाजिक व्यवस्था है, वह इसके स्वरूप व उपयोगिता को अत्यधिक विकृत व घृणास्पद बना रही है। उसी देश को आज अधिक सभ्य माना जाता है जिसका औद्योगी-

करण विशाल पैमाने पर हो चुका हो, चाहे उसके नैतिक पतन का लेखा-जोखा ही क्यों न हो ? लेकिन सभ्यता की कसौटी के बारे में ऐसी धारणा भी सही नहीं है।

प्रायः सभ्यता को आचार-विचार का विषय माना जाता है और इस दृष्टि से वही देश सभ्य कहलाने का अधिकारी है जहाँ के निवासी सत्कर्म निष्ठ, नैतिक जीवन बिताने वाले और इन्द्रियों एवं आवश्यकताओं का दमन करने वाले होते हैं। संक्षेप में जो भौतिकता के गुलाम नहीं, किन्तु भौतिकता जिनकी दासी है, वे ही सभ्य है और इन्हीं स्त्रोतों से सुसभ्यता के मधुर प्रवाह प्रवाहित हुआ करते हैं। कोरा भौतिक विकास चाहे वाह्य रूपमें विकास प्रतीत होता है किन्तु उसमें आध्यात्मिकताकी उच्चता आये बिना आत्मोत्थान का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि चूंकि जीवन-विकास की दीवार नीति-धर्म और चारित्र्य की नींव पर टिकी हुई रह सकती है अतः उस नींव को उखाड़ कर कोरी दीवार खड़ी नहीं रखी जा सकती। इसलिये यांत्रिक प्रसार और व्यवस्था को सही मानव विकास के अनुकूल नहीं बनाया गया तो उससे निर्गत सभ्यता विकृति का विषैला वातावरण ही बनायगी। यांत्रिक सभ्यता जीवन-विकास की दिशा में सहायक बन सके—इसके लिये आध्यात्मिकता को जीवन के सभी क्षेत्रों में अपनाना कल्याणकारी हो सकेगा।

———

जीवन का बसन्त

आज म्हारा संभव जिन का...
हितचित सूं गुणगास्यां,
मधुर-मधुर स्वर राग अलापी
गहरे शब्द गुंजास्या...

जीवन में ऊँचा से ऊँचा विकास संभव है और कोई भी लक्ष्य असंभव नहीं है—यही तो श्री संभव प्रभु की प्रार्थना से शिक्षा मिलती है। उनका नाम संभवनाथ है, वे हर स्थिति को संभव बनाने वाले हैं—परिस्थितियों के स्वामी हैं। जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर जब कोई पथिक पग बढ़ाता है और उस समय भयंकर प्रतिकूलताएँ अगर उसके कदमों को डगमगा दे तो वह स्थिति परिस्थितियों की दासता के रूप में देखी जायगी। जीवन में सफलता उस पथिक को मिलती है जो मजबूत कदम बढ़ाता हुआ हर प्रतिकूल परिस्थिति को संभव बनाता हुआ आत्म-विकास के लक्ष्य की ओर अग्रसर होता चला जाता है। ऐसी ही अवस्था में जीवन का बसन्त खिलता है, जिसके पत्र पल्लवों की हरितिमा आत्म-सुख की अनुभूति देती है, पुष्पों का मधुरिम सौरभ आचार एवं विचार वैभव को सुवासित बना देती है और बासन्ती बहार त्याग की भावनाओं को उभार देती है।

वास्तव में विश्व में विकृति एवं विनाश को सम्यक् नव-सर्जन के परिधान से सुसज्जित करने वाला महानता को प्राप्त होता है। यही कारण संभवतः कि वसन्त ऋतु प्रकृति की महान् चमत्कारिक प्रफुल्लता का प्रतिफल है। निस्सन्देह निर्माण की अपेक्षा विनाश सरल होता है क्योंकि निर्माण में तो मनुष्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियाँ संचालित एवं विकसित होती हैं वहां विनाश तो केवल निर्माण के लिये धरातल मात्र तैयार करता है।

यह स्पष्ट करने की कोई खास आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक तत्त्व के पर्याय रूप दो पहलू होंगे—विनाश और निर्माण। एक स्वरूप-पर्याय, खत्म होगा और दूसरे स्वरूप-पर्याय का जन्म—इसीलिये उसे नवसर्जन कहा जाता है। पर्याय परिवर्तन का रूप उसमें रहा हुआ है। वसन्त के आगमन पर प्रकृति का कायाकल्प सा हो जाता है। प्रकृति तो है ही, पर पतझड़ उसकी कुरुपता को झाड़ देता है और वसन्त उस विनाश के धरातल पर नवल सुमन खिलाता है—नव सर्जन करता है। उसके पुरातन जर्जर देह में नव चेतना का प्रादुर्भाव हो उठता। वसन्त की डेहली पर प्रकृति नव-निर्माण के प्रासाद में पग धरती है। एक तरह से वसन्त प्रकृति का वह संजीवनकाल होता है, जब प्रकृति की आभा उसके उच्चमतम स्तर पर कान्तिमान होती है।

जीवन का वसन्त भी तो ऐसा ही होता है। जब आत्मा स्वार्थगत विकृतियों में कलुषित बन पतन की राह चलने लगती है तब उस प्रयास की आवश्यकता होती है जो प्रकृति के लिये

पतझड़ करता है। पुराने जर्जर व शुष्क पत्तों की तरह विकृतियों व अशुद्धताओं को झाड़ देना पड़ता है और तब वसन्त का आगमन होता है—सद्विचारों और सद्वृत्तियों के सुवासित सुमन सब ओर खिल पड़ते हैं, महक उठते हैं। आत्मा विकास की वासन्ती बहार में तन्मय हो झूम उठती है।

प्रकृति के अखूट भंडार से मनुष्य जितना चाहे, ले सकता है। निरन्तर प्रवाहित होते रहने वाले निर्झर भीषण कठिनाइयों के बावजूद भी जीवन-प्रवाह को कभी अवरुद्ध न होने देने का प्रेरक सन्देश देते हैं तो तीखे पत्थरों की मार के बदले मीठे और स्वादिष्ट फल देने वाले वृक्ष मनुष्य को अद्भुत सहनशीलता का पाठ पढ़ाते हैं। इसी प्रकार प्रकृति की प्रत्येक रचना से मनुष्य किसी न किसी रूप में अपने जीवन के लिये उद्बोधनकारी प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। फिर वसन्त तो प्रकृति की पूर्ण श्रृंगार वेला का नाम है, अतः जीवन के अंग २ में इसका कितना प्रेरणादायक प्रभाव हो सकता है—यह तो मनुष्य जितना गहरा सोचे, उतना ही उससे अधिकाधिक प्राप्त कर सकता है। प्रकृति का वसन्त जीवन के बसन्त काल का आह्वान करता है और उसे सर्वांगरूपेण "सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" की उत्कृष्ट भावना से पूरित कर देने की तेजस्वी स्फुरण फूंकता है।

आत्मीय वास्तविक सुन्दरता जीवन का भी अन्तिम लक्ष्य है और वसन्त का भी। जीवन में सत्य का सुस्वरूप पहचाना जा सके—ग्रहण किया जा सके तब शिवं—कल्याण का मार्ग दिखाई

देता है और यह कल्याण का मार्ग "सुन्दरम्" के लक्ष्य तक पहुंचा देता है। यह भी एक सुनिश्चित सत्य है कि प्रकृति का शुद्ध सौन्दर्य आत्मा के पवित्र सौन्दर्य को चेतनामय—जागरण-युक्त बना सकता है। पतझड़ के वाद नवीन उल्लास से प्रस्फुटित होने वाला वसन्त वासना की मलिनता को नीचे दवा देता है और जीवन में नूतन प्रफुल्लता लाने का प्रवल प्रोत्साहन देता है। वासना के कीचड़ से निकल कर जीवन में नवीन तेज व सौन्दर्य लाने के लिये इस समय ब्रह्मचर्य का पालन किया जाना चाहिये ताकि वसन्त की शुद्धता का उसके वास्तविक आत्मीय-स्वरूप में आनन्द लाभ लिया जा सके। एक दृष्टि—आयु का वसन्त ब्रह्मचर्य भी है। जिस प्रकार प्रकृति के संसार में नये रसों का संचय काल वसन्त है, उसी प्रकार ठीक इसी समय आयु के वसन्त यौवन काल में जीवन के वास्तविक सारभूत तत्त्व रूप अनेक शक्ति रसों का भी संचय होता है। इसलिये स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो वा नवयुवक—वसन्त सब के लिये आत्मीय शक्ति रूप रसानुभूति का अमूल्य भंडार खोल देता है। वसन्त में संचित रस ही कालान्तर में पुष्पों के निर्मल हास्य के रूप में परिवर्तित होते हैं। वास्तव में जीवन-विकास के गंभीर अर्थों में वसन्त केवल वाह्य प्रकृति की शोभा ही नहीं, अपितु मानवीय जीवन की अभ्यन्तर चेतना का सर्वोपरि कुशल उद्‌वोधक है।

पुरातन विकृति के संचय को त्याग करना वसन्त ऋतु का आह्वान करना होता है। वायु के सर्द झकोरों से अपने आपको

कठिनाइयों के मुकाबिले में कुर्बान कर देने वाले पुराने पत्तों के स्थान पर बसन्त के आगमन पर नई कोंपलों के रूप में फूटने लगते हैं। जो साहसपूर्ण विकारों का बलिदान करता है, उसकी प्रगति उतनी ही अधिक चमत्कारपूर्ण होती है। कुरूपता के श्रीविहीन स्वरूप को त्याग कर बसन्त में वे पत्ते जीवन का नव-श्रृंगार करते हैं। त्याग के फलस्वरूप प्राप्त विकास क्रम का यही शुभ परिणाम प्रकट होता है। जब दो फूल लगते हैं तो उनके साथ पच्चीस कलियाँ भी खिल पड़ती हैं। जब कोई शुद्ध भावना व लिप्सारहित उद्देश्य से आत्मदान करता है तो उसका प्रभाव निकटस्थ वातावरण को भी विकासक बनाने में पड़ता है।

आत्मा का चरम उद्देश्य होना चाहिये कि वह अपने अन्तिम मूल स्वभाव की ओर गतिमान हो, और वास्तविक सुन्दरम् को प्राप्त करे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये यह जरूरी हो जायगा कि उन तत्त्वों को छोड़ा जाय जो इस लक्ष्य को पाने के बीच में रोड़े बनकर पड़े हुए हैं। सुन्दरता लाने के लिये कुरुपता छोड़नी पड़ेगी—काम, क्रोध, मोह, अज्ञान, विलासिता और पुरातन मिथ्यात्वभरी प्रकृतियों की असुन्दरता को छोड़े बिना सम्यक्त्व का बसन्त जीवन के प्रांगण में खिलकर खेल नहीं सकता।

जीवन में प्रस्फुटित होने वाले ऐसे नव बसन्त का अभिनन्दन करने के लिये आपको अपने सामाजिक जीवन की भी कायापलट करनी पड़ेगी तब मिथ्या और आत्म-घातक

सामाजिक रूढ़ियों का दाह-संस्कार इसलिये जरूरी आप महसूस करेंगे कि ऐसी रूढ़ मनोवृत्तियाँ सदैव प्रगति पथ का अवरोध करती है। आप चाहें कि अधोगति में ले जाने वाले सड़े-गले कुसंस्कारों, मिथ्या रीति-रिवाजों एवं खतरनाक अन्धविश्वासों को भी अपने दैनिक जीवन से चिपकाये रखो और जीवन में वसन्त के आगमन का भी आह्वान करो—ये परस्पर विरोधी बातें एक साथ कैसे चल सकती है ? अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष व ऐसे सभी मनोविकारों को अपनी प्रकृति से विदा देने पर ही वात्सल्य, प्रेम, नम्रता, विश्वबन्धुत्त्व तथा स्व-स्वरूपरमण एवं अन्य नवीन सद्गुणों के अतिथि आपके जीवन रूपी प्रांगण में प्रवेश कर सकते हैं। इनका प्रवेश आत्मा को वसन्त श्री से सुसज्जित कर देगा।

यह सत्य है कि काले वस्त्र पर वासन्ती रंग की चमक पैदा नहीं हो सकती और अगर उसे फिर भी वासन्ती रंग में कोई डुबा ही दे तो उसकी तह में रही हुई कालिमा उमड़ २ कर रंगरेज की अकुशलता पर अट्टहास करती रहेगी। वस्त्र को नये रंग से चमकाने के लिये पहले उसकी कालिमा नष्ट होनी चाहिये। ठीक इसी तरह रागद्वेष की कालिमा से रंगा हुआ जीवन शुद्ध वासन्ती रंग से कैसे चमक सकेगा ? त्याग और तप से उस कालिमा को धोने पर ही जीवन का प्रांगण वासन्ती आभा पा सकेगा, उसमें भावना के फूल खिल सकेंगे, जो अपने

चारों ओर मानवता, शुद्ध प्रेम, दया व सहानुभूति की मीठी सुगन्ध बिखेर देंगे।

अतः बसन्त नव सन्देश लेकर आता है। प्रकृति की सुकोमल सुखभरी गोद में नवीन आत्मिक भावों के सुमन खिलें—ऐसी यह सुनहली वेला है। शुष्क धरती पर मनोहर माधुर्य का रस सिंचन करने वाला बसन्त कह तो रहा है कि जब जीवन की रागद्वेषमय कलुषित शुष्कता पर सात्विक विचारों की रस-धारा प्रवाहित होगी तो जीवन का बसन्त खिल उठेगा। आज मानव क्या समस्त प्राणियों को अपने सद्भावना भरे प्रेम रस से सिंचित करके उन्हें एक सूत्र में आवद्ध करने का एक सुन्दर समय उपस्थित हुआ है। इसी समय धार्मिक क्रियाओं से अन्तःकरण की शुद्धि करने की आवश्यकता है ताकि मनुष्य का मानस आध्यात्मिक क्षेत्र में रमण करने के लिये तत्पर बन सके। प्रत्येक मानव हृदय में आध्यात्मिक चेतना के विकास से सामाजिक जीवन में भी नवीन जागृति फैलेगी।

आज छूआछूत की भावना, जातिगत द्वेष व ऐसे ही कई सामाजिक रिवाज प्रचलित हैं, जो जीवन के कलंक स्वरूप हैं। कितनी निन्दनीय पद्धति है कि कुत्तों को अपने साथ बिठाया जा सकता है किन्तु आदमी को छुआ तक नहीं जा सकता। जैनधर्म का तो विशाल दृष्टिकोण है कि—कर्म अर्थात् कार्य व सद्गुणों से ही अगर कोई जाति मानी जाय तो हो सकती है वरना निर्गुण काल्पनिक जाति-प्रथा का कोई अस्तित्व नहीं

रहना चाहिये। मनुष्य क्या प्राणीमात्र से वास्तविक मैत्री रखने की उदार भावना का जैनधर्म निरूपण करता है। जहां छूआछूत, जातिभेद वा अन्य किसी भी ऐसे भेद के रखने की कोई गुंजाइश नहीं है जो मानवता में दरारें डालकर मानव को पतन के रास्ते पर गिराते हों।

वसन्त का यह रमणीय समय विकास की ओर अग्रसर होनेकी अनूठी प्रेरणा दे रहा है। और समय के औचित्य को न समझने में मनुष्य अपनी ही हानि कर सकता है। शेक्सपियर ने एक जगह कहा है—"मैंने समय को नष्ट किया, अब समय मुझे नष्ट कर रहा है।" संसार में आप लोग देखते हैं कि पदार्थों का मूल्य वास्तव में पदार्थों का मूल्य न होकर समय का भी मुद्रा-जन्य मूल्य मूल्य होता है और इसीलिये समय के अनुसार वह बदलता रहता है पर वस्तु का मौलिक स्वरूप नहीं। समय की प्रेरणा और वस्तु का मौलिक स्वरूप—अतः जो न समझ सके, उसे समय के प्रवाह में अपने आपको लुप्त कर देना पड़ता है—उसका विकास कुचल जाता है।

इस वसन्त के सुवासित वातावरण में प्रत्येक को यह सुखाभास होता होगा कि क्यों न वर्ष भर वसन्त बना ही रहे? किन्तु आज सामाजिक वातावरण ऐसा हो रहा है कि ६५ प्रतिशत दलितों, शोषितों और उत्पीड़ितों के लिये यह नरक से भी बदतर सा लगता है। एक ओर नंगा, भूखा, बेघर इन्सान दाने २ के लिये तरसता फिरता है तो दूसरी ओर सम्पन्नता के

नशे में मदमाता उसका दूसरा साथी इन्सान अनुपयोगी, अनावश्यक एवं भावशून्य रीति-रिवाजों में अपार धन-राशि का अपव्यय कर डालता है। आप लोग विवाह शादियों में हजारों और लाखों तक नम्बर ले जायेंगे, किन्तु यदि दीनों की निरपेक्ष सहायता के लिये कोई कहेगा तो वह उत्साह नहीं देखा जायगा। अगर किसी को दुःखियों के आँसू पोंछने को कहा जाय और वह अपनी विलासिता में मग्न बना उस बात पर एक क्रूर हंसी हंस दे तो क्या उसे मानव भी कहा जाय? ऐसे व्यक्तियों को अगर कहा जाय कि इस सारे अपव्यय को न करके सत्साहित्य के सही प्रचार में योग दो या कोई अन्य ऐसे कार्य में अपने द्रव्य का व्यय करो जिससे साधारण जनता में बौद्धिक जागरण हो और उन्हें सत्य सिद्धान्तों को समझने का मौका मिले तो भी वे ऐसे सत्कार्योंसे भी कोई लगाव रखना नहीं चाहेंगे। यही मनुष्य के हीन होने का संकेत है। झूठी प्रतिष्ठा के पीछे, शादी व अन्य रिवाजों में पानी की तरह पैसा बहाओ और उससे अपनी शान में चार चांद लगते हुए महसूस करो—यह निरा भ्रम ही है।

आप लोगों से कटु सत्य कहा जाय कि ऐसी घातक एवं मिथ्या रूढ़िवादिता व अज्ञानमूलक प्रतिष्ठा रक्षा से जैन सिद्धान्तों का खून तो होता ही है किन्तु समाज के साधारण नैतिक नियम भी कुचले जाते हैं और चारों ओर एक प्रकार की राक्षसी प्रवृत्ति का प्रसार होने लगता है। जब मैं अहमदा-

वाद में था तो एक अत्यधिक सम्पन्न ईसाई ने अपने धर्मगुरु की की सलाह से दो-चार रुपयों में ही विवाह समारोह सम्पन्न कर दिया और अपनी धन-राशि साहित्य प्रचार में भेंट दे दी। वहां आप अपनी समाज में क्या करते हो? जिसके पास जितना धन है, वह दहेज, तिलक, डोरा आदि रीति-रिवाजों को बढ़ाकर अपनी प्रतिष्ठा-वृद्धि का दंभ करता है। क्या यह स्थिति सच्चे विकास की ओर आपको ले जायगी—यह सोचने का विषय है।

वसन्त के आगमन को महसूस कीजिये। वसन्त की बहार में आपको ऐसा दृश्य नहीं दिखाई देगा कि कहीं एक कोना तो पल्लवित व पुष्पित है तथा पास ही दूसरा कोना सूखा और मुरझा हुआ पड़ा है। फिर देखिये और सोचिये कि समाज के विभिन्न कोनों में यह आकाश-पाताल का सा अन्तर क्यों है? क्या वसन्त का विकासकाल समाज में क्रान्ति और समान विकास की प्रेरणा नहीं देता?

समाज और धर्म की बिखरी हुई लड़ियों को जोड़ने के लिये अन्तर में एक पवित्रता का संचार होना चाहिये। वह सच्ची शक्ति विकास के सारे धरातल को सुदृढ़ बना सकेगी। वैज्ञानिकों का मत है कि एक एकड़ भूमि की घास में इतनी शक्ति है कि उसके सहारे हजारों यंत्र चल सकते हैं लेकिन ऐसा तभी संभव होता बताया जाता है जब उस शक्ति को आपके "पिस्टन रॉड" पर केन्द्रित किया जाता है। किन्तु जब तक वह शक्ति

बिखरी हुई रहती है, विज्ञान और उपयोगिता की दृष्टि से निरर्थक मानी जाती है। उसी तरह अपनी आत्मिक शक्तियों को संयम व विकास के 'पिस्टन रॉड' पर जब चढ़ाया जायगा तो उससे जो तेज पैदा होगा, वही जीवन के चरम लक्ष्य की ओर आगे ले जायगा।

प्रकृति पतझड़ में जब सूखे पत्तों को नीचे गिरा देती है तभी वसन्त खिलता है। अतः आपके समाज में हो या साधु समाज में—विकृतियों की सूखी पत्तियों को झाड़ना ही पड़ेगा। एकता और सही विकास की कड़ी में बंध जाने के लिये अहितकर साम्प्रदायिक नाम, पदवियों व शिष्य-परम्परा का मोह व ऐसी ही अन्य दांभिक प्रवृत्तियों को त्यागना पड़ेगा।

मैं तो यही जानना चाहता हूँ कि समाज की सभी शक्तियाँ अपने अथक परिश्रम से कब व्यक्ति व समाज के पवित्र आंचल में आत्मीय तेजोमय वसन्त की मधुरिमा का प्रसारण कर सकेगी ? सब के जीवन में कब वसन्त का शुद्धिमय स्वर्णिम रूप सम्पूर्ण आत्मीय श्रीयुक्त होकर खिल उठेगा ?

प्रार्थना की शक्ति

सुबुद्धि जिनेश्वर.........

प्रार्थना एक परम पवित्र दैनिक अनुष्ठान है और सभी आध्यात्मिक नेताओं ने इसके महत्त्व को स्पष्ट किया है तथा इसके आचरण पर जोर दिया है। प्रार्थना करने वाला व्यक्ति श्रद्धाशील होना चाहिये, परन्तु कोरी श्रद्धा विवेकहीन होने से आत्मोद्धारक नहीं हो पाती। अतः चिन्तनशील मनुष्य किसी तत्व को पहले अपने मस्तिष्क में स्पष्ट करता है और जब उस तत्व का मर्म व रहस्य उसके हृदय में प्रकाशित हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि वह तत्व वा सिद्धान्त प्रभावकारी हुआ, तो बिना कहे ही उसकी उस तत्व के प्रति श्रद्धा हो जाती है। और यह एक सत्य है कि इस प्रकार पूर्ण ज्ञान के पश्चात् जिस तत्व के प्रति श्रद्धा होती है, वह निश्चय ही अमिट होती है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि के प्रकाश में जब श्रद्धा का प्रवेश होता है तो वह स्थायी व आनन्ददायी होता है। वास्तव में श्रद्धा की नहीं की जाती, वह तो स्वयमेव हो जाती है। किसी विशेष गुण, तत्व वा शक्ति के स्वरूप वा विकास को देखकर जिस पूज्य बुद्धि युक्त स्थायी आनन्द पद्धति की हृदय में स्थापना

होती है, उसीका नाम श्रद्धा है। अतः बुनियादी तौर से श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिये बुद्धि की आवश्यकता होती है।

कभी-कभी यह भी होता है कि श्रद्धा के बल पर मनुष्य की वृत्ति बुद्धि को सजग करने की ओर बढ़ती है, किन्तु उस श्रद्धा का आधार कुछ न होने से पहले उसकी दृढ़ता के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि यदि उस श्रद्धा के साथ मनुष्य के हृदय में दुराग्रह या हठाग्रह की वृत्ति पैदा हो गई तो वह श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा के रूप में भी बदल सकती है। अन्ध-श्रद्धा जीवन की प्रगतिशील दिशा की ओर बढ़ने की प्रेरणा नहीं देती, अपितु उसमें एक तरह से जड़ता व रूढ़िवादिता की भावना को जन्म देती है।

अतः प्रार्थना एक ऐसा अनुष्ठान है, जिसमें दैववाद व पौरुषवाद का सामंजस्य होता है। प्रार्थना के अनुष्ठान में प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति स्वयमेव श्रद्धान्वित हो जाता है। श्रद्धा सदैव सत्य की अनुगामिनी होती है और सत्यबुद्धि के प्रकाश में प्रकट होता है।

तो हम यहां भगवान् सुबुद्धिनाथ की प्रार्थना कर रहे थे। प्रश्न उठता है भगवान् सुबुद्धि की प्रार्थना करने से क्या? किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि प्रार्थना में एक ऐसी विशिष्ट शक्ति है जो हमें श्रद्धाशील बना देती है। उन महान् आत्माओं के गुण-गानों से, जिन्होंने उत्कृष्टतम शुद्धावस्था रूप परमात्मपद को प्राप्त कर ईश्वरत्व धारण कर लिया है। और जो सांसारिकता

से सर्वथा विमुक्त होकर निजानन्द में तल्लीन हो गये हैं, प्रभावित होकर हम भी हमारे जीवन के लिये उसी लक्ष्य तक पहुंचने की जो आदर्श कामना करते हैं, उसी अपने आत्मा के प्रति की गई याचना का नाम ही प्रार्थना है। साधारण मनुष्यों की बुद्धि इतनी सूक्ष्म नहीं होती कि वे योगी की तरह केवल शास्त्रों में वर्णित रहस्यपूर्ण जटिल सिद्धान्तों को समझ कर उनके आधार पर ही अपने विकास का मार्ग शोध निकालें। अतः प्रार्थना इसलिये करनी चाहिये और वह भी उसकी दैनिक आदत होनी चाहिये कि उन विशिष्ठ विभूतियों का जीवन स्वरूप अर्थात् उनके आत्म-विकास का मार्ग सिनेमा के दृश्यों की तरह हमारे मस्तिष्क पटल में स्पष्ट तौर पर अंकित हो जावे। यही जीवन सत्य प्रार्थना हमारे समक्ष प्रकट करती है।

हम जिन परमात्मा की प्रार्थना कर रहे थे, उनका नाम श्री सुबुद्धिनाथ है। उसमें कहा गया है कि उस परम सुबुद्धि वाले परमात्मा की शरण में जा और उनको नमस्कार कर, जिससे तेरे सब पाप नष्ट हो जायेंगे। मैं भी रोज प्रार्थना करता हूँ और परमात्मा को नमस्कार करने को कहता हूं। किन्तु इस विषय को समझने की आवश्यकता है कि परमात्मा को नमस्कार कैसे किया जाय ताकि सब पाप दूर हो जायं। जब यह कहा गया है कि परमात्मा को एक ही बार नमस्कार करने से सभी पापों के पुंज से विमुक्ति मिल जाती है और स्वयं सूत्र की गाथा भी इसी प्रकार की है:—

"ऐगोऽविणमुक्कारो जिणवर वस्सावन्द्धमाणस्स ।
संसार सायराहु तारेई नरं वा नारीं वा ॥"

फिर आप सोचते होंगे कि हम तो अनेको वार नमस्कार कर चुके हैं तब क्या कारण है कि हमारे तिरने का नम्बर नहीं आया ? जब इस गाथा का स्पष्ट अर्थ है कि जो कोई भी परमात्मा को एक भी वार नमस्कार करेगा, वह स्त्री हो या पुरुष, धनी हो या दीन, वालक हो या वृद्ध उससे सभी पाप नष्ट हो जायेंगे, फिर हमारे प्रत्यक्ष अनुभव के तो यह कथन विरुद्ध प्रतीत होता है, ऐसी शंका होना स्वाभाविक है ।

भगवान् सुबुद्धिनाथ की प्रार्थना से सुबुद्धि प्राप्त होने के इस विलम्ब में, यदि गहराई से सोचा जाय तो हमें एक रहस्य का अनुभव होगा । जिस एक नमस्कार के लिये कहा गया है, वह नमस्कार ठीक लक्ष्यपूर्वक ही होना चाहिये । सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक पहुंचने में केवल अन्तर्मुहूर्त ही लगता है । इस अल्प समय में ही कर्म-बंधन से बद्ध आत्मा केवली हो जाती है । इसी प्रकार की भावनाओं का प्रवाह भी नमस्कार में होना चाहिये तभी आत्मा का कर्म मैल नष्ट होता है ।

किन्तु प्रश्न उठता है कि इतनी वार प्रार्थना करने पर भी भी सुबुद्धि की प्राप्ति हो क्यों नहीं जाती ? जब एक ही वार नमस्कार करने से पाप नष्ट होने को कहा है तो फिर यह विलम्ब कैसा ? किन्तु जिस प्रकार योद्धा युद्ध में लड़ने जाता है और जहाँ निशाना लगाना चाहता है, वहाँ तुरन्त लगा देता है ।

लेकिन यह सोचने की बात है कि क्या उसने बिना किसी पूर्व अभ्यास के ही पहली ही बार में ठीक निशाना लगा दिया ? नहीं, वह ठीक निशाना तो उसकी एक लम्बे अर्से की तैयारी के बाद लगा सका होगा। तात्पर्य यह है कि एक बार नमस्कार करने का जो प्रश्न है, वह भी इसी तरह का है। प्रार्थना एक तरह से उस साधन का नाम है, जिसके द्वारा एक दिन एक ही नमस्कार से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। अतः उस नमस्कारात्मक भावना को प्राप्त करने के लिये साधना या अभ्यास की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि श्रावक को सत्संगति व साधुओं को साधना और निरन्तर साधना करने का उपदेश दिया गया है।

आत्मोद्धार के इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिये प्रार्थना करते समय जिस प्रधान गुण की अनिवार्य आवश्यकता होती है, वह है अपने लक्ष्य में पूर्णतन्मयता व साधना में एकाग्रता। जहां एकाग्रता का स्पष्टतया अभ्यास हुआ कि लक्ष्य साधने में फिर कोई विलम्ब नहीं हो सकता। महाभारत में लक्ष्य साधना के विषय में वर्णित एक सुन्दर कथा है, जो यह दिखाती है कि खासतौर से एकाग्रता की श्रेणी कितनी ऊँची पहुंचनी चाहिये।

गुरु द्रोणाचार्य कौरव-पांडव बालकों को सभी विद्याओं की शिक्षा दिया करते थे। एक दिन भीष्म ने उनकी परीक्षा लेने का आदेश किया। द्रोणाचार्य ने परीक्षा की सारी व्यवस्था की। एक ताड़ वृक्ष पर एक मोर पिच्छ का चाँदला बंधवाया। ठीक

उसके नीचे एक गड्ढा खुदवाया और उसमें स्वच्छ पानी भरवा दिया। फिर विद्यार्थियों में यह घोषणा करवा दी गई कि इस चाँदले को जो एक ही निशाने में वेध देगा, उसे राधावेध विद्या सिखाई जायगी।

यथासमय दर्शकों से मैदान भर गया। भीष्म इत्यादि सभी राजघराने के व्यक्ति भी उपस्थित थे। द्रोणाचार्य १०० कौरव व ५ पांडव आदि अपने विद्यार्थियों को लेकर वहां पहुंचे। सबसे पहले दुर्योधन धनुष-बाण लेकर आगे आया। उसने जल से भरे हुए गड्ढे के पास खड़े होकर निशाना लगाने की तैयारी की। इसी समय द्रोणाचार्य ने पूछा—दुर्योधन, तुम्हें क्या-क्या दिखाई देता है? उसने उत्तर दिया—गुरुदेव, मुझे आप सारा जन समुदाय, बाण, चाँदला आदि सभी दिखाई देता है। यह सुनकर आचार्य ने उसकी कमजोरी को परख लिया। इस तरह एक-एक करके सारे विद्यार्थियों से यही प्रश्न पूछा और किसी का एकाग्रता की ओर ध्यान नहीं था अतः कोई भी वह निशाना भेद देने में समर्थ नहीं हुआ।

अन्त में अर्जुन की बारी आई। जब वह भी बाण चलाने के लिये तैयार हो गया तो गुरुदेव ने वही प्रश्न उससे भी किया। वह गुरुदेव द्वारा प्रत्येक को पूछे जाने वाले इस प्रश्न पर पहले ही से सोच रहा था। उसे सूझा कि उसे जहाँ निशाना लगाना है, उस स्थान पर यदि उसका सारा ध्यान केन्द्रित नहीं होता तो वह लक्ष्य भेदने में सफल कैसे हो सकता है? उसे

समझ में आया कि अन्य सभी साथी सफल इसीलिये नहीं हो सके हैं कि उनका ध्यान चारों ओर बँटा हुआ था, एकाग्र नहीं हो पाया था। पानी की तरफ उसकी दृष्टि थी और उसमें चाँदले की परछाई पर उसने अपने ध्यान को एकाग्र कर दिया। गुरु के प्रश्न का उसने उत्तर दिया—मुझे तो चाँदला और वाण की नोक सीध में दिखाई दे रहे हैं। उसके सिवा कुछ और नहीं दिखता। आचार्य प्रसन्न हो गये कि लक्ष्य को सफलता पूर्वक वेधने वाला सिर्फ अर्जुन ही होगा। हुआ भी ऐसा ही, अर्जुन का निशाना ठीक स्थान पर लगा।

जबकि चारों ओर विशाल जनसमुदाय उपस्थित था और भी कई आकर्षक वस्तुएँ विद्यमान थीं, किन्तु चूंकि अर्जुन की दृष्टि एकाग्र हो चुकी थी, उसे सिवाय साध्य (चाँदला) व साधन (वाण) के कुछ नहीं दिखाई पड़ा। इसी तरह के भाव परमात्मा को नमस्कार करने के समय होंगे तभी लक्ष्य भेदा जा सकेगा। अव सोचिये, आप भी परमात्मा को नमस्कार करते हैं, पर आपका मन कहाँ २ दौड़ता है, आपकी दृष्टि में संसार के कितने पदार्थ समाये रहते हैं, फिर यह कैसे संभव है कि एक ही नमस्कार से सारे पाप नष्ट हो जाय। निशाना मारने की तो एक लम्बी साधना करनी पड़ेगी और उसके बाद में ही एक ही वाण में लक्ष्य भेदने की योग्यता प्राप्त हो सकती है।

श्रद्धा और सुबुद्धि की प्राप्ति हित हम परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, किन्तु आत्मा से कहा गया है कि, हे आत्मा ! जब तक

भावी है। गुफा में जाकर यदि कोई कहे कि तेरा बाप चोर तो प्रतिध्वनि भी यही होगी कि तेरा बाप चोर और इसके विपरीत अगर कहा गया कि तेरा बाप साहूकार तो फिर वैसी ही प्रतिध्वनि भी होगी। ऐसी ही गुफा की तरह यह संसार है, जैसा जहाँ जो बोता है, उसे वैसा ही काटना पड़ता है। यदि कोई किसी को सतायेगा, 'आघात करेगा, अन्याय करेगा' तो अवश्य ही उसे उसका फल भुगतना ही पड़ेगा। प्रत्याघात से कोई कितनी ही चतुरता करे बच नहीं सकता। प्रकृति इस कार्य में कभी भूल नहीं करती।

आज तो परमात्मा के नाम पर भी वैषम्य फैलाया जाता है, किन्तु सुबुद्धि नमस्कार की भावना में कभी भी वैषम्य नहीं देखती है। वहाँ तो सब आत्माओं को परमात्मस्वरूप देखने की ही भावना वर्तमान रहती है। यह कुबुद्धि का ही प्रभाव है कि आज के समाज में धर्मों के भेद भी इतने कटु हो गये जो एक तरह की घोर हिंसा के ही कारण होते हैं। आप सब जानते हैं कि सिर्फ धर्म का ही नारा उभाड़ कर हिन्दुस्तान के दो टुकड़े किये गये। और इस विभाजन में कितना खून बहा, कितना अत्याचार हुआ—यह सब सोचते हुए भी रोमांच हो उठता है। निर्दोप को मारना एक बहुत बड़ा अपराध है और ऐसे आततायियों को हटाकर आत्मरक्षा के लिये जैनधर्म गृहस्थ को निपेध नहीं करता है। रक्षा की जिम्मेवारी आप पर है तो उसे प्रेम से समझावें और फिर भी उसका प्रतिफल विपरीत हो

तो जैसे बनें वैसे रक्षा करनी होती है, क्योंकि कायरता तो और भी बुरी होती है। निरपराधियों पर आघात करना उनका मन से, वाणी से किसी भी तरह बुरा सोचना भयंकर पाप है। कई लोग यह तर्क करते हैं कि साँप, शेर आदि को मारने में क्या हरकत है, लेकिन केवल अपने मानसिक भय के कारण निर्दोष की जान ले लेना भी घोर पाप करना ही है।

जैनशास्त्रों में दो तरह की हिंसा का वर्णन है, एक अल्प हिंसा और दूसरी महाहिंसा। इनकी व्याख्या के पहले एक वात समझ लेना जरूरी है कि हमारे यहां पर 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त का पूरा २ समावेश किया गया है। हम उस तरह जीयें कि दूसरों के जीने में किसी भी प्रकार से वाधा न पड़े, वल्कि हमारे जीने के तौर तरीकों से दूसरों का जीना अधिक सुखभरा और शान्तिपूर्ण हो सके। इससे भी आगे हमारा एक और कर्त्तव्य है और वह अहिंसा के उस पक्ष को जागृत करता है जिसके द्वारा मनुष्य में कर्मण्यता का संचार हो सके। मनुष्य जब अपने सामने देखता है कि कोई दूसरों के जीने के अधि-कारों को कुचलता हुआ चला जा रहा है तो वह उस अन्याय के विरोध में, लड़ने के लिये तैयार हो जाता है। जैसे राम और रावण का युद्ध हुआ, दोनों लड़े और दोनोंने जीवों का विनाश किया। तो मैं आपसे कह रहा था कि एक न्यायभरे सिद्धान्त के लिये लड़ने के कारण राम की हिंसा फिर भी अल्प हिंसा थी मगर वही हिंसा अन्यायी रावण की महाहिंसा कहलायेगी।

इस तरह हम देखते हैं कि अगर राम रावण का अन्याय देखते रहते तो अपने कर्त्तव्य से च्युत होते और जो अन्याय को बढ़ावा मिलता उससे प्रजा के पतन का महान् रास्ता खुलता जाता। इसी तरह का जैन शास्त्रों में भी एक कथानक है कि--न्याय के लिये लड़ने वाला अल्पहिंसक प्राणी अपना आत्म-विकास करके एक भव में ही मुक्ति का पथगामी हो सकता है। उक्त कथानक चेडा महाराज का कथानक है। राजा श्रेणिक के राज्याधिकारों को लेकर भी उनका बड़ा लड़का कुणिक सन्तुष्ट नहीं हुआ तो उसने अपने छोटे भाई हलकुमार की दो निजी वस्तुएं हार और हाथी भी लेना चाहा। इस पर हलकुमार ने अपने नाना चेडा महाराज की शरण ली जो अठारह गणराज्यों के प्रधान थे। चेडा महाराज के सामने सिर्फ हार और हाथी का प्रश्न नहीं था बल्कि साम्राज्यवादी कुणिक के अन्याय का विरोध करने का सवाल उठ खड़ा हुआ था। उन्होंने कुणिक की युद्ध की चुनौती स्वीकार की और संग्राम के बाजे बजा दिये। वे बारह व्रतधारी श्रावक थे, किन्तु न्याय के लिये खून की नदी बहाते हुए भी वे अपने व्रत से च्युत नहीं हुए। यही अहिंसा में लक्ष्य की विशेषता है।

अहिंसा के पालन का एक और रूप भी है। लोग स्वयं तो हिंसा नहीं करते किन्तु कई चीजें ऐसी होती हैं जिनके कारण अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा को उत्तेजना मिलती है। उदाहरणार्थ—कई लोग रेशम और चर्बी के कपड़े वापरते हैं, मुलायम चमड़े

के जूते पहनते हैं, और ऐसे ही दूसरे पदार्थ काम में लाते हैं जो भारी जीवहिंसा से तैयार किये जाते हैं। चूंकि जीवहिंसा का वह दर्दनाक दृश्य उनके सामने नहीं होता, इसलिये वे दूसरों द्वारा की जाने वाली हिंसा के प्रति उत्तेजना से वेभान रहते हैं। यह तो फिर भी वस्तुस्थिति का गौण रूप है। इससे भी अगर हम गहरे उतरें और सोचें तो मालूम होगा कि आज की पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में मशीन की चीजें काम में लाकर किस प्रकार सारे उपभोक्ता लोग मजदूरों के साथ में वर्ती जाने वाली शोषण की हिंसाभरी नीति को बढ़ावा देते हैं। इससे भी आगे कई वार मनुष्य अपनी वाणीके द्वारा भी हिंसा को उत्तेजित करते हैं। कठोर और व्यंग्य भरे वचनों से कैसी २ अनर्थभरी घटनाएँ हो जाती है यह हम रात-दिन सुनते हैं। दूसरों का वाणी से अपमान करना, तिरस्कार करना, अनादर करना और निन्दा करना भी एक तरह की हिंसा ही है। इस-लिये वाणी की अहिंसा का अर्थ है कि हमारे वचनों में इतनी मधुरता, इतना प्रेम हो कि कोई भी सहज ही में हमारी ओर आकर्पित हो जाय। जैसे कि—तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुं ओर।
वशीकरण एक मंत्र है, तजी दे वचन कठोर॥

इस प्रकार ये तो अहिंसा के वाहरी रूप हुए जिनका वल अन्तरात्मा और मन पर टिका रहता है। सवसे ऊँची तो

मानसिक अहिंसा होती है। जिस तरह का निर्माण आत्मा और मन में बनता है उसीका प्रभाव हमारी बाहर की प्रवृत्तियों और स्थितियों पर पड़ता है। अगर हमारा आत्मा कमजोर हो, अहिंसा का मर्म उसके भीतर स्पष्ट नहीं हो सका तो भले ही बाहर की हमारी प्रवृत्तियां अहिंसापूर्ण दिखाई दे किन्तु वह बाहर की स्थिति अन्दर की रचना के बिना स्थायी नहीं बनी रह सकती।

अब हम सीधे अपने मूल विषय पर आते हैं कि इस आन्तरिक निर्माण के लिये जो हमारी चेतना में अटूट जागृति पैदा होनी चाहिये और अपार शक्ति का श्रोत फूट पड़ना चाहिये वह प्रार्थना के बिना नहीं हो सकता। वह पहले समझा जा चुका है कि प्रार्थना हृदय और बुद्धि का परिमार्जन करती है और उन महान् प्रेरणाओं की ओर हमारी सारी कार्यशक्ति को मोड़ना चाहती है, जो हमें महान पुरुषों और सांस्कृतिक स्तंभों के ज्वाज्वल्यमान प्रकाश से प्राप्त होती है। तो हम सीधे शब्दों में प्रार्थना की विराट् शक्ति का विवेचन करें कि प्रार्थना के द्वारा मनुष्य की विकृत बुद्धि को रोशनी मिलती है और उसका मतलब है कि उसका मानस सुबुद्धिपूर्ण बनता चला जाता है।

जब किसी की बुद्धि "सु" के अलंकार से अलंकृत हो जाती है तो उसका सुष्ठुपन जीवन के हर अंग में झलकता है और घुलमिल जाता है तब मनुष्य में अपने जीवन और सर्वस्व को भी दूसरों के लिये निछावर कर देने की अनुपम वृत्ति जागती